प्राक्कथन

मेरी सुयोग्य शिष्या कुमारी डा० पद्मा अग्रवाल ने पिछले वर्ष "मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ" पर एक पुस्तक लिखकर पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली है। जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहीं पर मुझे उस पुस्तक की प्रशंसा सुनने में आती है। इस बात से मुझे बड़ा हर्ष है। उस पुस्तक की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने बहुत शीघ्र ही प्रस्तुत पुस्तक लिखकर प्रकाशित करा ली। यद्यपि मैंने स्वयं उनको यह पुस्तक लिखने के लिये कहा था और इसके लिखने में उनको सहायता देने का वचन भी दिया था, मैं कुछ भी सहायता नहीं दे सका। पुस्तक बहुत अच्छी है। और मेरा विचार है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों और जन साधारण को उनकी पहली पुस्तक से भी अधिक उपयोगी साबित होगी। मैं उनको उनकी इस रचना पर बधाई देता हूँ और अपने हर्ष को इन शब्दों द्वारा प्रकट करता हूँ।

नवम्बर २८, १९५२

भी० ला० आत्रेय
एम० ए०, डी० लिट०, के० सी० के० टी०
अध्यक्ष दर्शन, धर्म, व मनोविज्ञान विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दो शब्द

हिंदी भाषा में साधारण मनोविज्ञान पर तो कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं पर मनोविज्ञान का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार प्रयोग किया जाय इस विषय पर अभी तक कोई पुस्तक देखने में नहीं आई। पिछले वर्ष मैंने एक पुस्तक 'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ' लिखी थी। पाठकों ने तथा उत्तर प्रदेश की सरकार ने उसका आशातीत आदर किया जिससे प्रभावित होकर प्रस्तुत पुस्तक 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' लिखकर इस विषय पर पुस्तकों के अभाव की साधारण पूर्त्ति करने का मैंने पुनः साहस किया है। इसमें यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि शिक्षा, उपचार, अपराध और उद्योग के क्षेत्रों में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग कर मनुष्य किस प्रकार अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। आशा है यह प्रयास अपने साहित्य की कुछ सेवा कर सकेगा।

इस पुस्तक को लिखने में आदरणीय डा० भी० ला० आत्रे से सदा की भांति मुझे जो प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला है उसके लिए मैं आभारी हूँ।

—पद्मा

विषय

परिचय

विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो पहलू हैं। सैद्धान्तिक धारणाओं का अनुसंधान होने के पश्चात् व्यावहारिक पहलू की ओर दृष्टि जाती है। शरीर-विज्ञान में अवयवों की बनावट और उनकी क्रियाओं की ओर ध्यान पहले गया और फिर, इनकी जानकारी हो जाने पर, शरीर के अंगों में उत्पन्न दोषों को दूर कर शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया गया। रसायन-शास्त्र में तरह-तरह के तत्त्वों की खोज हुई, इन तत्त्वों के गुणों पर विचार हुआ और फिर औषधियाँ बनीं। न्यूटन ने 'आकर्षण के सिद्धान्त' का अनुसंधान किया और फिर गणित की रूपरेखा बनाई जो व्यावहारिक जीवन के लिये महत्त्व की है। यही मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुआ। बीसवी शताब्दी के पहिले मनोविज्ञान का विषय केवल सिद्धान्तों का संग्रह था। स्मृति (*Memory*), विचार (*Thought*), संवेदन (*Sensation*), कल्पना (*Imagination*), प्रत्यक्षीकरण (*Perception*)—ये क्या हैं, इनकी क्या विशेषताएँ हैं, ये कितने प्रकार के हैं और इनमें परस्पर क्या संबंध है—इतना ही अध्ययन का विषय था। मन की इन विभिन्न शक्तियों का उपयोग और विकास किस प्रकार किया जाय, इस ओर मनोवैज्ञानिकों का ध्यान नहीं गया था। पर पिछले पचास वर्षों में मन की इन शक्तियों के स्वभाव और प्रकार के बारे में विशद वर्णन देने के अतिरिक्त नये प्रयोग ईजाद किये गये जिनके फलस्वरूप मन की इन शक्तियों को विकसित करने का उपक्रम किया गया। जिस प्रकार यंत्रों द्वारा नाक कान और आँख की परीक्षा ली जा सकती है, उसी प्रकार मन के क्रिया-व्यापार का भी वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। जेस्ट्रोव यंत्र द्वारा स्मृति-शक्ति की परीक्षा ली जाने लगी। ऐस्थेसियोमीटर यंत्र द्वारा त्वचा

की संवेदनशीलता का पता लगा। दृश्य प्रत्यक्षीकरण के संबंध में, 'रंग मेल' (*Colour Mixture*) और 'अंध बिंदु' (*Blind Spot*) का अन्वेषण हुआ। कार्य-क्षमता के माप के लिये हस्त-कौशल परीक्षाएँ (*Performance Tests*) निकलीं। बुद्धि की परीक्षा के लिये प्रश्नों की सूची तैयार की गयी।

प्रायोगिक मनोविज्ञान (*Experimental Psychology*) के अन्वेषण के बाद मनोविश्लेषण (*Psychoanalysis*) की भी नींव पड़ी। अब तक मानसिक क्रियाएँ पहेली थीं; विवरण का यदि कहीं प्रयत्न किया गया तो दैवी व्याख्या दी गई। निद्रावस्था में आत्मा शरीर से बाहर होकर इधर उधर भटकते हुए जो अनुभव करती वही स्वप्न माना जाता। इसी प्रकार हिस्टीरिया का कारण सिर पर भूत का आना समझा जाता। दैवी व्याख्या के बाद शारीरिक विवरण अधिक प्रचलित हुआ। स्वप्न का कारण शारीरिक उत्तेजन समझा गया और हिस्टीरिया का कारण स्नायुतंत्र (*Nervous System*) में दोष। परन्तु अज्ञात मन (*Unconscious Mind*) की धारणा का अन्वेषण होते ही मानव के समस्त क्रिया-व्यापार की मानसिक व्याख्या की जाने लगी। स्वप्न को अज्ञात मनकी इच्छा-पूर्त्ति (*Wish-fulfilment*) और हिस्टीरिया को काम-भाव के दमन का परिणाम समझा गया। तदनुसार युक्तियाँ ढूँढ़ी गयीं जिनसे मन का शोधन-रेचन हो और मानसिक विकार का निवारण। मनुष्य सहज-सरल रीति से संश्लेषणात्मक (*synthetic*) और विश्लेषणात्मक (*analytic*) शक्ति के सहारे अपने और दूसरों के संघर्ष, विकल्प और गुत्थियों को सुलझा सके। जीवन की सबसे बड़ी समस्या मन को समझना है; और इसके लिये मनोवैज्ञानिक की पैनी दृष्टि आवश्यक है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों का ध्यान जीवन की समस्याओं की ओर प्रवृत्त हुआ। मानस-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग व्यवहार में इतना बढ़ा कि आगे चलकर 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' नाम से एक स्वतंत्र विषय बन गया।

व्यावहारिक मनोविज्ञान क्या है

पौफ़ेनबरगर की परिभाषा में व्यावहारिक मनोविज्ञान की समस्या "व्यक्तियों को उनके पृथक्-पृथक् स्वभाव, बुद्धि और अभिरुचि के अनुकूल उपयुक्त शिक्षा देना है; और वातावरण में परिवर्त्तन करके उनके जीवन में इस प्रकार सामञ्जस्य लाना है जिससे अधिक से अधिक व्यक्तिगत संतोष मिले और समाज का विकास हो[1]।" व्यावहारिक मनोविज्ञान की मुख्य समस्या व्यक्तिगत भेद की समस्या है। कोई भी दो व्यक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समान नहीं होते। स्वभाव, बुद्धि और अभिरुचि में भेद रहता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का उद्देश्य इस भेद को ध्यान में रखकर इस प्रकार का सुझाव देना है कि मानव के जीवन में सामञ्जस्य (*adjustment*) बना रहे। साधारणतः सामञ्जस्य तीन प्रकार से होता है : एक, परिस्थिति में परिवर्त्तन करके उसे किसी व्यक्ति विशेष की पैदायशी प्रकृत इच्छा-आवश्यकता के अनुकूल बनाना—यह वातावरण का परिवर्त्तन है; दो, उपयुक्त शिक्षा द्वारा उस व्यक्ति-विशेष की प्रकृत इच्छाओं का परिमार्जन कर उन्हें वातावरण, समाज के आदर्श नियम-परम्परा के अनुकूल बनाना—इसमें वातावरण में नहीं, व्यक्ति-विशेष में परिवर्त्तन किया जाता है; तीन, वातावरण और व्यक्ति की प्रकृत इच्छा, दोनों में ही उचित परिवर्त्तन करके एक दूसरे के अनुकूल बनाना। जिस व्यक्ति का स्वभाव ढुलमुल होता है, उसकी इच्छाओं का परिमार्जन शिक्षा द्वारा सहज ही हो सकता है, और इस प्रकार वह अपने स्वभाव को वातावरण के अनुकूल बना

---

१ 'The problem of Applied Psychology is to adjust differentially endowed individuals by training them, by selection of their environment and by the control of this environment that they may attain the maximum of social productivity and the maximum of personal satisfaction."—poffenberger.

लेगा। जिसका स्वभाव दृढ़ है, उसके व्यक्तित्व में परिवर्त्तन सम्भव नही। इस कारण वातावरण मे उचित सशोधन करना है। अच्छा तो यह है कि सामञ्जस्य के लिये वातावरण मे उचित सशोधन किया जाय और शिक्षा द्वारा मानव स्वभाव का भी परिमार्जन हो। वातावरण की रूपरेखा खीचना आसान नही। एक की रुचि इच्छा कुछ है और दूसरे की कुछ और। जो वातावरण एक के अनुकूल है वह दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकता है।

'व्यावहारिक मनोविज्ञान' स्वतत्र विज्ञान नही है। यह मनोविज्ञान शास्त्र की केवल ऐसी शाखा है जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तो पर पूर्णतः निर्भर है।[१] इसमे किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नही हुआ है, केवल मनोविज्ञान के सिद्धान्तो की उपयोगिता की व्याख्या विस्तार से है। बात यह है कि मनोविज्ञान का जीवन से बहुत घनिष्ठ सबध है। करीब-करीब जीवन की सभी समस्याओ पर कुछ न कुछ प्रकाश यह अवश्य डालता है। इससे हम अपने को जानने-समझने लगते है, उलझने सुलझ जाती है, ग्रन्थियाँ खुल जाती है और व्यक्तित्व तथा वातावरण मे सामञ्जस्य हो जाता है। बुद्धि (*Intelligence*) और अभिरुचि (*Aptitude*) के अनुकूल शिक्षा मिलने से मानसिक समर्थता का अधिक से अधिक उपयोग होता है। इससे व्यावसायिक क्षेत्र मे भी सामञ्जस्य रहता है। इसी कारण कुछ मनोवैज्ञानिको का यह कथन है कि मनोविज्ञान की इस शाखा को 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' न कहकर 'मनोविज्ञान का व्यवहार मे प्रयोग' (*Application of Psychology*) कहना अधिक उपयुक्त है।

मुन्स्टरबर्ग ने अपनी पुस्तक 'साइको-टेकनीक' मे इस बात का उल्लेख किया है कि सैद्धान्तिक मनोविज्ञान (*Theoretical Psychology*),

---

१ "Applied Psychology can be characterised as a technology resting upon the science of psychology."

व्यावहारिक मनोविज्ञान (*Applied Psychology*), और मानस-क्रियाकौशल (*Psycho-technique*) में क्या भेद है। 'सैद्धान्तिक मनोविज्ञान' का अर्थ शुद्ध या सामान्य मनोविज्ञान है जिसे अंग्रेजी में 'प्योर' या 'जेनरल साइकॉलजी' कहते हैं। इसका विषय कल्पना, स्मृति, विचार, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि सूक्ष्म प्रत्यय हैं। इसमें केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है; व्यावहारिक उपयोगिता और विकास का विश्लेषण और संश्लेषण नहीं किया गया है। मुन्स्टरबर्ग के अनुसार व्यावहारिक उपयोगिता का विषय 'सामान्य मनोविज्ञान' की सीमा से बाहर है।

'व्यावहारिक मनोविज्ञान' में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के उपयोग पर बल दिया गया है। इतिहास, गणित, रसायन इत्यादि विषयों की विवेचना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर मिलती है। उदाहरणार्थ, किसी ऐतिहासिक आन्दोलन का विवरण मनोविज्ञानिक दृष्टि से देना; रंग की विशेषताओं के विवरण में मनोविज्ञान के सिद्धान्त का प्रयोग करना; अर्थशास्त्र की समस्या हल करने में मनोवैज्ञानिक सुझाव देना।

'मानस-क्रियाकौशल' (*Psycho-technique*) का अर्थ है व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिये मनोविज्ञान की युक्तियों का प्रयोग करना। यह मानस-शास्त्र की ही विशेषता नहीं है; प्रत्येक विज्ञान की अपनी युक्ति होती है जिसके प्रयोग से उसका लाभ उठाया जा सकता है। रसायन-विज्ञान की युक्ति का प्रयोग करके शरीर को स्वस्थ रखने के लिये औषधि बनाई गयी; शरीर में जिन तत्त्वों की कमी मिली उन्हें औषधि रूप में देकर शरीर को स्वस्थ रखने का उपक्रम किया गया। गणित की विशेष युक्ति का उचित प्रयोग करके बिजली की रोशनी निकाली गयी। मानस-क्रियाकौशल के ज्ञान से व्यक्तित्व के उचित विकास का साधन प्राप्त हुआ, शिक्षा की वैज्ञानिक विधि निकली, सामाजिक समस्या का समाधान मिला और राजनीतिक विरोध के मूल स्रोत का पता लगा। व्यावहारिक जीवनकी दृष्टि से 'मानस-क्रियाकौशल' जैसा उपयोगी है वैसा अन्य कोई विज्ञान नहीं।

मुन्स्टरबर्ग का यह प्रयास उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि मानस-क्रियाकौशल और व्यावहारिक मनोविज्ञान के विषय पृथक् है। उन्होंने 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' शब्द का प्रयोग बहुत संकुचित अर्थ में किया है। वास्तव में 'मानस-क्रियाकौशल' तो 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' का एक अंग है। इसका कार्य उसी के अन्तर्गत है।

अब सामान्य और व्यावहारिक मनोविज्ञान के परस्पर सबंध के विषय पर प्रकाश डालना है। सामान्य मनोविज्ञान का विषय मन के पहलू[1] के बारे में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है।

व्यावहारिक मनोविज्ञान का सामान्य मनोविज्ञान से संबंध

जब मनोविज्ञान की धारणाओं-मान्यताओं का अध्ययन सिद्धान्त के रूप में होता है, तब ये धारणाएँ सामान्य मनोविज्ञान का विषय बनती हैं; जब इनका अध्ययन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग की दृष्टि से होता है, तब ये धारणाएँ सामान्य मनोविज्ञान का विषय न बनकर व्यावहारिक मनोविज्ञान का विषय बनती हैं। इस प्रकार,

---

१ मन के तीन पहलू हैं : संवेगात्मक (Affection), **क्रियात्मक** (Conation) **और बोधात्मक** (Cognition)**। इनके बिना मानस-संबंधी किसी भी क्रिया-व्यापार की कल्पना नहीं की जा सकती। संभव है मन के कुछ क्रिया-व्यापार में संवेगात्मक पहलू की प्रधानता हो; कुछ में क्रियात्मक, और कुछ में बोधात्मक। पर कुछ न कुछ मात्रा में तीनों पहलू हरेक मानसिक क्रिया में विद्यमान रहते हैं। जिसकी प्रधानता होती है वह क्रिया उसी वर्ग की मानी जाती है। उदाहरणार्थ, क्रोधित होना सवेगात्मक क्रिया है। संवेग की प्रधानता होते, क्रियात्मक और बोधात्मक पहलू भी विद्यमान हैं : हाथ पटकना, चेहरे का लाल होना क्रियात्मक पहलू के बोधक हैं; वह स्थिति विशेष जो क्रोध को उद्दीप्त करती है, बोधात्मक पहलू का सूचक है।**

एक में सिद्धान्त का विवरण है—जिसमें प्रत्येक मनोवैज्ञानिक धारणा के स्वरूप पर बल दिया गया है; दूसरे में उनका उपयोग दिखलाया गया है।

सामान्य मनोविज्ञान में वृत्ति (*Instinct*) के स्वभाव और उसकी विशेषता का अध्ययन होता है—वृत्तियाँ क्या हैं, कितने प्रकार की हैं, और किस प्रकार इन वृत्तियों के संघटन पर चरित्र-निर्माण निर्भर है? व्यावहारिक मनोविज्ञान में वृत्तियों के परिमार्जन-उन्नयन का साधन मिलता है जिससे व्यक्तित्व विकास (*Personality development*) उचित रूप से हो, सामाजिक व्यवहार में मनुष्य कुशल हो, उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पूर्ण हो, बाह्य और आभ्यन्तरिक जीवन में सामंजस्य स्थापित रहे, संवेग की दृष्टि से मन स्थिर रहे और इस प्रकार मानव-जीवन समृद्ध बने।*

सामान्य मनोविज्ञानका क्षेत्र अधिक विस्तृत है; व्यावहारिक मनोविज्ञान उसका एक भाग है। विपयवाद (*Structuralism*)[1], क्रियावाद (*Functionalism*)[2], प्रवेगवाद (*Dynamic school*)[3] और

---

* Elaboration of the Method for such an attainment.

१. **विषय-वाद** (Structuralism) **मत के प्रवर्त्तक अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक टिचनर हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान-शास्त्र में मन की केवल मानसिक विषय** (mental contents) **का अध्ययन होता है। इन सबकी जानकारी के लिये अन्तःप्रेक्षण** (Introspection) **सबसे अच्छी विधि है।**

२. **क्रियावाद** (Functionalism) **के प्रवर्त्तक वुन्ड्ट फ्रैन्ज़ हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय मन के क्रिया-व्यापार** (mental fuuctions) **हैं; इच्छा कल्पना तथा स्मृति इत्यादि मानसिक विषय** (mental contents) **नहीं। कार्ल स्टम्फ ने भी वुन्ड्ट फ्रैन्ज़ का अनुमोदन किया और यह भी प्रमाणित किया कि मनुष्य की सभी मानसिक क्रियाएँ, संवेदनों** (Sensations) **और बिंबों** (Images)

व्यवहारवाद (*Behaviourism*)[१] की तरह व्यावहारिक मनोविज्ञान

पर निर्भर हैं। क्रियावाद का सिद्धान्त अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के बहुत कुछ समान है।

३. प्रवेग-वादियों (Dynamic school) के अनुसार मनोविज्ञान का मुख्य विषय अज्ञात मन (Unconscious mind) के विषय (contents) और कार्य-पद्धति (Dynamisms) है। मानव का सम्पूर्ण व्यवहार और व्यक्तित्व अज्ञात मन की इच्छाओं से संचालित होता है। अज्ञात मन में ज्ञात मन (Conscious Mind) से बहिष्कृत इच्छाएँ संगृहीत रहती हैं। ये इच्छाएँ सक्रिय हैं और सदैव प्रकट होने का प्रयास किया करती हैं। इस मत के मुख्य प्रवर्त्तक डा० सिग्मण्ड फ्रौएड एडलर और यूंग हैं। फ्रौएड ने मनोविश्लेषण (Psycho-analysis), एडलर ने वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology), और यूंग ने विश्लेषणात्मक (Analytical School of Psychology) की नींव डाली।

१. व्यवहारवाद (Behaviourism) की नींव सन् १९१२ में जॉन वाटसन ने डाली। इसका प्रारम्भ विषयवाद (Structuralism) और क्रियावाद (Functionalism) की प्रतिक्रिया में हुआ। अभी तक मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय ज्ञात मन के विषय और क्रिया-व्यापार थे: इसके अनन्तर अध्ययन का विषय मानव-व्यवहार हुआ। मानव-व्यवहार के अध्ययन के लिये संप्रेक्षण (Observation) उत्कृष्ट विधि है। इस कारण इस स्कूल ने अन्तःप्रेक्षण (Introspection) के स्थान पर संप्रेक्षण (Observation) और प्रयोग (Experiment) को अपनाया। अन्त प्रेक्षण की विधि वैज्ञानिक नहीं होती; व्यक्तिगत धारणा से रंगी रहती है और प्रयोग द्वारा इसके तथ्य प्रमाणित नहीं किये जा सकते।

कोई सामान्य मनोविज्ञानका अलग मत नहीं है। सामान्य मनोविज्ञान में सुदूरवर्त्ती प्रयोग होता है; व्यावहारिक मनोविज्ञान में निकटवर्त्ती ।

गुन्डलक का कथन है कि वैज्ञानिकों की रुचि सदा से सामान्य सिद्धान्तों की खोज में लगी रही है। अपनी बुद्धि की दौड़ान से वे लक्षण (*data*) ढूढ़ते हैं, और भाव-वस्तु (*idea-object*) के स्वभाव तथा विशेषता की खोज करके उसका विवरण देते हैं; विशेषज्ञ का कार्य केवल उन वस्तुओं को उपयोग मे लाना रह जाता है। वैज्ञानिक का कार्य संप्रेक्षण (*Observation*) और प्रयोग (*Experiment*) के आधार पर निष्कर्ष निकालना है; विशेषज्ञ का कार्य व्यावहारिक दृष्टि से उसे परखना है। इमारत बनाने में वैज्ञानिक का ध्यान वस्तुओं के तत्त्वों (*ingredients*) पर जायगा; विशेषज्ञ का ध्यान उन वस्तुओं के उपयोग पर। इस प्रकार सबका उद्देश्य एक है, दृष्टिकोण भिन्न हैं।

अब हमें देखना है कि व्यावहारिक मनोविज्ञान का संबंध राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से क्या है। राजनीति शास्त्र का विषय है राज्यशासन—गृहयुद्ध, दलबंदी इत्यादि। इन सबकी पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक है। यदि इन राजनीतिक समस्याओं की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझते हुए सुझाव रखा जाय तो राजनीति की बहुत-सी समस्या हल हो जायँगी। गृह-युद्ध का कारण जनता का

व्यावहारिक मनोविज्ञान का अन्य विज्ञान से संबंध

व्यवहारवाद के अनुसार मानव-व्यवहार केवल उत्तेजन की प्रतिक्रिया (Stimulus-Response) **है। वृत्ति पैदायशी गुण नहीं : यह केवल सहज-क्रिया** (Reflex action) **की एक धारा है। मानव-व्यवहार अभ्यस्त सहज-क्रिया** (Conditioned Reflex) **है।**

इसी कारण यह समझा जाता है कि व्यवहारवादकी नींव रूस के सहजक्रियावादियों (Reflexiologists) **ने डाली है।**

मानसिक असंतोष है। जिस व्यक्ति या समूह के हाथ में राज्य के शासन की बागडोर है, यदि वह जनता के मन की स्थिति को समझते हुए राज्य का प्रबन्ध करता है तो बगावत नहीं हो सकती। इसी प्रकार दलबन्दी का एकमात्र कारण मानव की प्रकृत मानसिक भूख है। मानव में आत्म-प्राधान्य (*Self-Assertion*) की प्रकृत वृत्ति बड़ी तीव्र होती है। किन्तु परिस्थितिया इसे तुष्ट नही होने देती। ऐसी अवस्था मे इस वृत्ति से प्रेरित होकर वह हीनत्व-भाव (*Inferiority feeling*) पर विजय पाने के लिये दलबन्दी करने लगता है। साम्प्रदायिक विद्रोह का कारण भी इसी वृत्ति का तुष्ट न होना है। परिस्थिति से बाध्य होकर एक जाति-धर्म के व्यक्ति को दूसरे जाति-धर्म के व्यक्ति के सम्मुख सिर झुकाना पड़ता है; अवसर मिलते ही पराजित सम्प्रदाय विद्रोह कर बैठता है। इस प्रकार की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिये मनोविज्ञान का सहयोग अनिवार्य्य है।

अर्थशास्त्र का भी व्यावहारिक मनोविज्ञान से घनिष्ठ संबंध है। औद्योगिक मनोविज्ञान (*Industrial Psychology*) का विकास इसका प्रमाण है। मनोविज्ञान के आधार पर कारखानो की व्यवस्था होने से श्रमिक की कार्य-क्षमता बढ़ गयी है। कम समय में थोड़े प्रयास और कम थकान से अधिक काम होने लगा है। श्रम पर व्यय कम होने से वस्तुओ के बनाने का व्यय भी कम हो गया है। क्रय विक्रय की समस्या सुलझ गयी है। कुशल विक्रेता की नियुक्ति होने से बिक्री अच्छी होती है। वस्तु भले ही अधिक परिमाण मे बनी हो किन्तु बिक्री अच्छी होने पर मूल्य में स्थिरता आ जाती है। मनुष्य की आवश्यकताओ को पहचानना और समझना मनोविज्ञान का विषय है, उनकी पूर्ति करना अर्थ-शास्त्र का।

समाज की उत्पत्ति, इसका विकास, सामाजिक सस्थाएँ तथा समाज के रोग-दोष (*Social Pathology*)—इन सब समस्याओ का

अध्ययन करना समाजशास्त्र का विषय है। आधुनिक युग में 'सामूहिक मनोविज्ञान' (*Group Psychology*) पर विशेष बल दिया गया है और समाज-संबंधी नये तथ्यों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण हुआ है। समाज की उत्पत्ति और विकास का कारण काम (*Sex*) और संघ-भाव (*Gregariousness*) की वृत्तियाँ हैं। अर्थात् एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति स्वभावतः आकर्षण हुआ और वह एकाकी न रहकर समूह में रहने लगा।

अब प्रश्न है कि व्यावहारिक मनोविज्ञान की नींव कब पड़ी। संभव है इसकी नींव मन-संबंधी नये सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ पड़ी हो।

व्यावहारिक मनोविज्ञान का विकास

प्रारम्भिक अवस्था में मनोवैज्ञानिकों को मनोविज्ञान के व्यावहारिक पहलू का बिल्कुल ज्ञान न था। मन के क्रिया-व्यापार के संबंध में भी जो कुछ ज्ञान था वह धुँधला और अपरिपक्व था। साधारण व्यक्तियों का विश्वास था कि मन किसी बाह्य शक्ति से संचालित होता है। उनका विश्वास पौराणिक कथाओं के आधार पर जमा था। शीशा तोड़ना, नमक छिड़कना, शुक्रवार को कुछ निश्चय करना तथा तेरह की संख्या अमंगल सूचक माने जाते थे। इस प्रकार मानव रूढ़ि-परम्परा के आधार पर किसी वस्तु या घटना की विवेचना करता था। वैज्ञानिक आधार पर किसी बात का अर्थ नहीं लगाता था। परन्तु विज्ञान की उन्नति होने से प्रत्येक मानव-क्रिया तथा व्यापार का नया विवेचन मिलने लगा। लोगों में इस धारणा का प्रचार हुआ कि मानव का क्रिया व्यापार दैवी शक्ति के कारण नहीं है; यह अपने ही मन का खेल है। मन की वृत्तियों का परिमार्जन करके मानव-व्यवहार में सब प्रकार का सुधार लाया जा सकता है।

तत्पश्चात् मनोविज्ञान में तीव्र गति से उन्नति हुई। अनेक प्रामाणिक परीक्षाएँ बनीं और मनोवैज्ञानिकों के मन में यह विचार उठा कि इन परीक्षाओं का प्रयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएँ सुलझाने में क्यों

न किया जाय। फलस्वरूप परीक्षाओं के आधार पर संवेदन की तीव्रता का पता लगाने का उपक्रम किया गया। इसके अतिरिक्त स्मृति, कल्पना, ध्यान, सीखना, बुद्धि और अभिरुचि नापने के लिये भी प्रयोग निकाले गये।

आधुनिक युग मे जीवन की समस्याएँ ही प्रयोग का आधार बनी। इसमे पहिले भी परीक्षाएँ थी, पर मनोवैज्ञानिको ने यह नही समझा था कि जीवन की आवश्यकताओ का कोई इनसे संबंध है। पिछले बीस वर्षों मे दोनो का परस्पर संबंध स्पष्ट हो गया और एक मे दूसरे की महत्ता समझी गयी। जीवन-संबंधी बातो को ध्यान मे रखकर जो प्रयोग उपयोगी समझे गये उनपर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ नये प्रयोगो का भी आविष्कार हुआ। वास्तव मे परीक्षाओं का मूल्य ठीक-ठीक परिस्थिति का ज्ञान कराना है जिससे मनुष्य समझ-बूझकर जीवन को पूर्ण और संयोजित बना सके। यह अवस्था व्यावहारिक मनोविज्ञान के विकास की उच्चतम अवस्था है।

मैटर्सन ने भी व्यावहारिक मनोविज्ञान के विकास का इतिहास अध्ययन करके मानव-विकास की तरह उसकी भी चार अवस्थाएँ पाईं:—

(१) प्रागजन्म काल (*Pre-natal-period*): इसका विस्तार १८८० से १९१७ तक है। जब १९१४ मे प्रथम महायुद्ध छिड़ा और मनोविज्ञान के प्रयोगो की आवश्यकता पड़ी, तब यह पहली बार बोध हुआ कि जीवन मे भी मनोविज्ञान के सिद्धान्त व्यवहृत हो सकते है।

(२) जन्मकाल (*Birth period*) · मनोविज्ञान के सिद्धान्त जीवन में व्यवहृत हो सकते है, इसका अंकुर १९१८ मे हुआ।

(३) बाल्यावस्था और युवावस्था (*period of childhood & adolescence*) इसका विस्तार १९१८ से १९३७ तक था।

(४) प्रौढ़ावस्था: व्यावहारिक मनोविज्ञान के विकास की यह सबसे उच्च अवस्था है। बालको की मानसिक परीक्षा (*Mental test*) लेना

प्रारम्भ हो गया। आधुनिक प्रायोगिक मनोविज्ञान (*Experimental Psychologh*) के प्रवर्त्तक बिने ने बालकों की बुद्धि-मात्रा का पता लगाने के लिये बुद्धि-परीक्षा बनाई। मुन्स्टरबर्ग ने मानस-शास्त्र की युक्ति का प्रयोग कई क्षेत्रों में किया। कुछ परीक्षाएँ अपराध की छानबीन के लिये भी निकली। आचरण-विशेषता और व्यावसायिक सामर्थ्य के माप का भी प्रयत्न किया गया। स्काट ने विज्ञापन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में अग्र भाग लिया और प्रयोग के आधार पर इस संबंध में निष्कर्ष निकाला। मनोविज्ञानशाला की नींव पड़ी और इसका उद्देश्य था कुछ ऐसी परीक्षाएँ बनाना जिनसे विक्रय की समस्या अध्ययन की जा सके और विक्रेता का ठीक चुनाव हो।

व्यावहारिक मनोविज्ञान का क्षेत्र

अब प्रश्न यह है कि व्यावहारिक मनोविज्ञान का क्षेत्र कहाँ तक विस्तृत है? शिक्षा (*Education*), उपचार (*Medicine*), न्याय (Law) और उद्योग (*Industry*) इसके मुख्य कार्य-क्षेत्र हैं। व्यावहारिक मनोविज्ञान के सहयोग से शिक्षा सहज-सरल और वैज्ञानिक बनी। बुद्धि, अभिरुचि, स्मृति तथा सीखने की परीक्षाओं का उपयोग शिक्षा में होने लगा। मनोविज्ञान में सीखना-विधि (*Methods of Learning*) और नियम (*Laws of Learning*) के संबंध में जो अनुसंधान हुए हैं वे शिक्षा के लिये अनिवार्य्य हैं। इच्छानुगत क्रिया (*Motivation*) और शिक्षा का परत्र प्रयोग (*Transfer of Learning*) अन्य आवश्यक प्रश्न हैं। शिक्षक की विशेषताओं पर मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालने से आदर्श शिक्षक का रूप मिलता है। जब शिक्षक को शिक्षार्थी के बौद्धिक और संवेगात्मक अवस्था का पूरा पूरा ज्ञान रहता है, तभी वह उचित शिक्षा दे सकता है।

उपचार-मनोविज्ञान (*Medical Psychology*) में ऐसे रोगों की व्याख्या मिलती है जिनका कारण मानसिक विकार या भावना-ग्रन्थि है।

मानसिक रोग के अतिरिक्त कुछ शारीरिक रोग भी हैं जो मानसिक विकार के कारण होते हैं। सिर का दर्द, बदहज़मी, लकवा, तपेदिक, साँस फूलना आदि मानसिक विकार से भी हो सकते हैं। मन और शरीर में घनिष्ठ संबंध है। शरीर के रोग का संबंध मन से इतना निकट है कि मन के विज्ञान को जाने बिना शरीर के रोग का उपचार प्रायः नहीं किया जा सकता। मानसिक रोग में हिस्टीरिया, सनक (*Obsession*), भीति (*Phobia*), औत्सुक्य (*Anxiety*), स्थिर-भ्रम (*Paranoia*), आसामयिक मनोह्रास (*Dementia Praecox*) और उत्साह-विषाद मय उन्माद (*Manic-Depressive Insanity*) हैं। इन रोगों के उपचार के लिये सम्मोहन (*Hypnotism*), आमर्शन (*Suggestion*), पुनःशिक्षण (*Re-education*) और विश्लेषण (*Analysis*) प्रमुख विधियाँ हैं।

रोगी का विश्लेषण सफलता से करने के लिये उपचार-मनोविज्ञान मे मनःसमीक्षक की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है। बिना विशेष गुण के वह सफलता से उपचार नहीं कर सकता। मनःसमीक्षक जब रोगी के स्वभाव और रोग को समझ लेता है तभी वह उसके स्वभाव के अनुकूल उपचार करके उसे नीरोग कर सकता है।

पिछले ५० वर्षों में व्यावहारिक मनोविज्ञान ने शनैः-शनैः न्याय-क्षेत्र को भी अपनाया। न्यायाधीश. और पंच की नियुक्ति और उनके निर्णय का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से होने लगा है। अब प्रश्न उठे : अपराध का कारण क्या है? मानव में अपराध करने की पैतृक विशेषता (*Hereditary characteristic*) होती है, या वह परिस्थिति से बाध्य होकर अपराध करता है? अपराधी का ठीक पता लगाने के लिये क्या कोई वैज्ञानिक विधि संभव है? दंड का प्रयोजन क्या है? अपराधियों के वर्गीकरण का आधार क्या हो? इन सब प्रश्नों का समाधान व्यावहारिक मनोविज्ञान में मिलता है। अपराधी की जाँच के लिये यूंग की शब्द-संधान (*Word-Association*) विधि है। दंड का प्रयोजन अपराधी से बदला

लेना नहीं, उनमें मानसिक परिवर्त्तन (*mental transformation*) लाना है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वर्गीकरण का आधार उम्र और अभ्यास होता है। इसके अनुसार बाल अपराधी (*Juveniles*) संस्कारशाला (*Reformatories*) में रखे जाँय। जिनका अपराध करने का अभ्यास पड़ गया है, उन्हें अलग रखने का प्रबंध हो और जेलों का प्रबंध अस्पताल की तरह हो।

उद्योग-क्षेत्र की समस्याएँ भी व्यावहारिक मनोविज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय रहा। अब समस्या है व्यावसायिक निर्देश (*Vocational Guidance*) और व्यावसायिक चुनाव (*Vocational Selection*) की जिससे श्रमिक और व्यवसाय में सामञ्जस्य (*Vocational adjustment*) लाया जा सके। प्रारम्भिक काल में पुश्तैनी व्यवसाय करना पड़ता था। आधुनिक युग में व्यवसाय निश्चित करने में श्रमिक की बुद्धि-अभिरुचि का ध्यान रखा जाता है और बुद्धि-अभिरुचि के अनुकूल व्यावसायिक निर्देश भी मिलता है। उसी व्यक्ति की कार्य में नियुक्ति होती है जिसमें वे सब विशेषताएँ हों जो उस व्यवसाय विशेष के लिये आवश्यक हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक व्यवसाय को बराबर निपुणता (*efficiency*) से नहीं कर सकता। सब मनुष्य बुद्धि और अभिरुचि की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त व्यवसाय भी कई प्रकार के हैं। कार्य क्षमता पर व्यावसायिक-सामञ्जस्य का बहुत प्रभाव पड़ता है। कार्य-क्षमता में वृद्धि करने की दृष्टि से बाह्य और आभ्यन्तरिक पहलुओं (*Objective and subjective conditions*) पर भी विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त विक्रेता की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है और विज्ञापन (*Advertisement*) पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार होने लगा।

इस प्रकार व्यावहारिक मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसका उपयोग देखकर सन् १९३७ में अमेरिका में एक व्यावहारिक मनोविज्ञान

परिषद् बनी। परिषद् का प्रमुख उद्देश्य जीवन की सब समस्याओं का मनोवैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करके व्यावहारिक मनोविज्ञान के विकास का प्रयास करना और उसकी उपयोगिता की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना था। इस परिषद् के ६०० सदस्य थे। इँगलैन्ड, जर्मनी, फ्रान्स, स्विटज़रलैन्ड, स्पेन, रूस, जापान और आस्ट्रेलिया में भी ऐसी परिषदें बनीं। इगलैन्ड में 'राष्ट्रीय औद्योगिक मनोविज्ञान केन्द्र' (*National Institute of Industrial psychology*) भी खुला। यहाँ से एक पत्रिका 'व्यावसायिक मनोविज्ञान' (*Occupational Psychology*) प्रकाशित हुई जो व्यावहारिक मनोविज्ञान के लिये बहुत महत्त्व की है।

वैयक्तिक भेद

वैयक्तिक भेद की समस्या मनोविज्ञान का प्रमुख प्रश्न है। यह प्रश्न प्राचीन काल से ही दार्शनिकों के विचार का विषय था। ग्रीस के विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं। उनके गुण में पृथक्ता होती है। दर्शन में वैयक्तिक भेद एक प्रकार से स्वतः सत्य मान लिया गया। पर प्लेटो के बाद बहुत दिनों तक इस समस्या पर विशेष रूप से विचार नहीं किया गया।

१६ वीं शताब्दी में गौल्टन ने वैयक्तिक भेद (*Individual Difference*) की समस्या का प्रसंग पुनः उठाया। उन्होंने डारविन के 'आकस्मिक विभिन्नता और स्वाभाविक चुनाव' (*Chance Variation & Natural Selection*) के सिद्धान्त का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि शरीर की बनावट की ही तरह मनुष्य के मानसिक क्रिया-व्यापार में भी भिन्नता होती है। मानसिक शक्ति के माप और उसकी परीक्षा के लिये बहुत सी विधियाँ निकाली और इस आधार पर उनका वर्गीकरण किया। संवेदन, स्मृति और शरीर की गति-संबंधी परीक्षाएँ विशेष रूप से ली गयीं। रूसो के सिद्धान्त के आधार पर फ्रौएबल ने अपने शिक्षा-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया। फिर तो सबका ध्यान एकबारगी वैयक्तिक भेद की समस्या की ओर गया। इस तरह वैयक्तिक भेद की समस्या मनोविज्ञान में अध्ययन के लिये प्रमुख समस्या बन गयी।

वैयक्तिक भेद सामान्य रूप से देश, जाति, वर्ग, चरित्र, बुद्धि और अभिरुचि-संबंधी होता है। प्रारम्भिक इच्छाएँ भले ही समान हों किन्तु हर एक देश के व्यक्तियों की अपनी अलग विशेषताएँ रहती हैं। केवल रहन-

सहन, पोशाक और खान-पान में ही एक देश दूसरे देश से पृथक् नहीं, वरन् बौद्धिक और संवेगात्मक प्रकृति मे भी पृथक् हैं। सामाजिक परम्परा और भौगोलिक स्थिति के कारण यह भिन्नता अवश्यम्भावी है। पश्चिमी और पूर्वीय देशों में तो यह भेद विशेष रूप से है। अमेरिका का निवासी किसी चीनी, जापानी या बर्मी से बहुत भिन्न होता है। जाति-संबंधी विवरण से पता चला है कि एक जाति और दूसरी जाति मे मानसिक शक्ति—धारण (*Retention*), विचार (*Thought*), कल्पना (*Imagination*) इत्यादि—की दृष्टि से बहुत भेद नहीं होता है। परस्पर भेद का कारण जातिगत विशेषताएँ (*Racial Characteristics*) नहीं, वातावरण है। जिस प्रकार एक ही जाति में शिक्षित जनता की मानसिक अवस्था का स्तर अशिक्षित से ऊँचा होता है, उसी प्रकार जिस जाति के सांस्कृतिक विकास के लिये उपयुक्त वातावरण मिलता है उसमे व्यक्तियों का मानसिक स्तर ऊँचा रहता है। हब्शियों से अंग्रेज़ों की मानसिक अवस्था का स्तर ऊँचा है। अंग्रेज़ों को शिक्षा-संस्कृति की सुविधाएँ मिलीं, हब्शियों को नहीं।

वर्ग की दृष्टि से स्त्री और पुरुष मे केवल शारीरिक बनावट-संबंधी भेद नहीं, मानसिक भेद भी है। प्रयोग से पता लगा है कि स्त्री में संवेदन, स्मृति, और रंग पहचानने की शक्ति पुरुष से अधिक है; पुरुष में क्रियात्मक निपुणता। स्त्रियों मे परस्पर विशेष भेद नहीं रहता; पुरुष में होता है : एक प्रतिभावान और दूसरा जड़। स्त्री और पुरुष में संवेग की दृष्टि से भी परस्पर भेद होता है; पर अभी तक वैज्ञानिक रूप से इसका ठीक-ठीक पता नही लगाया जा सका है। बुद्धि की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों समान हैं।

१. वैयक्तिक भेद चरित्र की दृष्टि से भी मिलता है। स्वभाव से ही कुछ व्यक्ति सौम्य, सहनशील और दयालु होते हैं और दूसरे के भले में अपना भला समझते हैं; कुछ लोग कपटी, पाखंडी और स्वार्थी होते हैं।

मन के विभिन्न शक्ति-संबंधी-भेद को प्रमाणित करने के लिये अनेक मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ ली गयीं और यह प्रमाणित हुआ कि हर एक मनुष्य

की मानसिक शक्तियाँ—संवेदन, ध्यान, स्मृति इत्यादि—पृथक्-पृथक् होती हैं। किसी में दृश्य-संवेदन (*Visual Sensation*) तीव्र होता है, किसी में श्रवण (*Auditory Sensation*) और किसी में स्पर्श (*Tactual Sensation*)। दृश्य-संवेदन की तीव्रता नापने के लिये रंग-परीक्षा ली गयी और पृथक्-पृथक् आकार के अक्षर पंक्ति में प्रयोग-पात्र से इतनी दूरी पर रखे गये कि सामान्य वर्ग के व्यक्ति आसानी से पढ़ सकें। श्रवण-संवेदन नापने के लिये ह्विस्पर परीक्षा दी गयी। इसमें प्रयोगकर्त्ता प्रयोग-पात्र से पृथक्-पृथक् दूरी पर खड़े होकर कुछ शब्द कहता है या निर्देश देता है। सीशोर ने औडियोमीटर यंत्र का अन्वेषण किया जिससे श्रवण-शक्ति भलीं-भाँति नापी जा सकती है। नापने पर स्वराघात पहचानने (*pitch discrimination*) की शक्ति भिन्न भिन्न मिली। मिस हेलन केलर अंधी और बहरी थीं; पर उनकी स्पर्श-संवेदन शक्ति अति तीव्र थी। स्मृति-शक्ति के भेद का पता 'ज़ेस्ट्रोव स्मृति यंत्र' द्वारा सहज ही लग जाता है।

बुद्धि की दृष्टि से भी व्यक्तिगत भिन्नता मिलती है : एक की बुद्धि-मात्रा अधिक होती है, दूसरे की न्यून। बिने, टर्मन तथा स्टर्न का प्रयास इस संबंध में प्रशंसनीय है। इसका उल्लेख विस्तार से आगे किया जायगा। अभिरुचि (*Aptitude*) में भेद होने के कारण एक व्यक्ति बौद्धिक कार्य के योग्य होता है और दूसरा यांत्रिक (*Mechanical work*)। हर एक प्रकार के कार्य की अभिरुचि हर एक में नहीं होती। कार्य समान क्षमता और कुशलता से नहीं किया जा सकता। इस पर बहुत से प्रयोग हुये हैं। कोह, कोनर, अलेग्ज़ेन्डर, मिन्सोटा इत्यादि द्वारा व्यवहृत परीक्षाओं से किसी व्यक्ति विशेष की अभिरुचि का पता सहज ही लग जाता है। अनस्टासी ने मनोविज्ञान-प्रयोगशाला में वैयक्तिक विशेषता नापने का प्रयत्न किया तो उन्हें पता चला कि जिस तरह शरीर की बनावट तथा शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रिया के आधार पर दो व्यक्तियों में

आसानी से भेद बतलाया जा सकता है, उस तरह मानसिक विशेषता (*mental trait*) की दृष्टि से भेद बतलाना सहज नही। एक व्यक्ति दूसरे से किस हद तक बुद्धि और अभिरुचि मे भिन्न है, यह नही कहा जा सकता। इसके लिये कोई माप-बिंदु नही है जिसके आधार पर ठीक माप लिया जा सके। सबसे तेज और सबसे मंद बालक मे बुद्धि के अनुपात का पता लगाने के लिये हल ने आठवीं श्रेणी के बालको की १३ बौद्धिक क्षमता-परीक्षाएँ (*Scholastic Achievement tests*) लीं। निष्कर्ष यह निकला कि इनमे प्रतिभावान् और मूर्ख बालकों की बुद्धि का अनुपात ३·५ और १ है। नवीं श्रेणी के बालकों की परीक्षा लेने पर ५ और १ का अनुपात मिला। इसका अर्थ है कि आठवीं श्रेणी का प्रतिभावान् बालक मूर्ख बालक से साढ़े तीन गुना अधिक विषय सीखेगा और नवीं श्रेणी का पाँच गुना। वेच्सेलर को यह अनुमान अतिशयोक्तिपूर्ण समझ पड़ा। उनके विचार से यह भेद केवल २ और १ के अनुपात मे हो सकता है अर्थात्, तेज बालक मंद बालक से केवल दुगुना कार्य कर सकता है। वेच्सेलर के आक्षेप करने पर हल ने इस समस्या पर फिर विचार किया, परीक्षा ली और सब परिस्थितियों को ध्यान में रख कर अंत में यह निष्कर्ष निकाला कि यह अनुपात २·५ और १ का हो सकता है।

हल की इन परीक्षाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव में बुद्धि और अभिरुचि की दृष्टि से कहाँ तक भेद है। बुद्धि और अभिरुचि जन्मजात विशेषताएँ है; इनमे वृद्धि नही की जा सकती। यदि व्यक्ति मूढ़ रहा तो उसे प्रखर बुद्धि का नहीं बनाया जा सकता। हाँ, बुद्धिका उपयोग करते रहने से उसका विकास अवश्य होता है।

अब प्रश्न उठता है कि वैयक्तिक भेद का कारण क्या है? वैयक्तिक भेद का कारण जन्मजात पैतृक विशेषता (*Hereditary Characteristic*) है। एक देश और जाति का व्यक्ति दूसरे देश और जाति के व्यक्ति से

पैतृक विशेषता के कारण पृथक् है। वैसमैन ने प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि बालक अपने माता-पिता के अनुरूप होता है। प्रतिभाशील माता-पिता के बालक प्रतिभाशील और मूर्ख के मूर्ख होते हैं। प्रश्न यह उठा कि जब वैयक्तिक भेद पैतृक विशेषता है तो एक ही माता-पिता के दो बालकों में पृथक्ता क्यों मिलती है; यहाँ तक कि दो जुड़वाँ बच्चे भी समान नहीं होते। इसका समाधान जन्मजात पैतृक विशेषता का समर्थन करते हुये किया जा सकता है। एक बालक को

वैयक्तिक भेद के कारण

वंश और माता-पिता से एक प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं, दूसरे को किसी दूसरे प्रकार की। कोई भी पुत्र पूर्ण रूप से माता-पिता के समानधर्मी नहीं होते। वे उनकी सभी विशेषताओं को लेकर पैदा नहीं होते—किसी में कोई विशेषता आ जाती है और किसी में दूसरी। बालक ओवम (*Ovam*) और स्पर्म (*Sperm*) से बना है। इनमें छोटे-छोटे कोष्ठ (*Cells*) होते हैं जिन्हें क्रोमोज़ोम्स (*Chromosomes*) कहते हैं। इनकी विशेषता पर बालक की वैयक्तिक विशेषता (*Individual trait*) निर्भर है। जुड़वाँ बच्चों मे भी पृथक्-पृथक् क्रोमोज़ोम्स होने के कारण पृथक्ता आ जाती है। गौल्टन और थौर्नडाइक ने जुड़वाँ बच्चोंका विशेष रूप से अध्ययन करके उन्हें मानसिक विशेषता की दृष्टि से समान नहीं पाया। प्रयोजनवाद (*Hormic School*) के प्रवर्त्तक मैकडूगल का भी कथन है कि भिन्नता मनुष्य की जन्मजात विशेषता के कारण होती है। बिने की·परीक्षाओं से भी इसका समर्थन होता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि वैयक्तिक भेद का एक मात्र कारण पैतृक विशेषता ही है। वातावरण का भी बालक पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रतिभा और अभिरुचि भले ही समान और एकरूप हो, मनुष्य पृथक्-पृथक् स्थिति में पृथक्-पृथक् कार्यक्षमता से कार्य करता है। गुण (*Quality*) और परिमाण (*Intensity*) में भिन्नता आ जाती है। सुविधाएँ मिलने

पर ही छिपी हुई शक्ति (*Latent capacities*) प्रस्फुटित हो पाती हैं, अन्यथा कुंठित हो जाती हैं। दो बालक समान रूप से प्रतिभावान् थे। बारी बारी से कक्षा में प्रथम आते किन्तु आगे जाकर उनमें से एक डॉक्टर बना और दूसरा पुस्तक-विक्रेता। बात यह थी कि पहला बालक धनी घर का था, उसे सभी सुविधाएँ मिलीं। उसका अध्ययन जारी रहा। दूसरा आठवीं कक्षा तक ही पढ़ पाया कि जीविका के लिये उसे नौकरी करनी पड़ी। प्रतिभा होने पर भी वातावरण के कारण उनमें व्यक्तिगत भेद हो गया। सामाजिक अभाव (*Social inadequacy*) के अतिरिक्त अस्वस्थता, थकान, अरुचि और अस्थिर मन के कारण भी विभिन्नता आ जाती है। वातावरण की इन्हीं मुख्य बातों का व्यक्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

सच पूछा जाय तो जन्मजात पैतृक विशेषता और वातावरण से प्राप्त सामाजिक विशेषता (*Social trait*) दोनों का बराबर महत्त्व है। इसका उल्लेख विस्तार से अगले परिच्छेदों में मिलेगा।

मनोविज्ञान और शिक्षा

मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का व्यवस्थित रूप से प्रयोग सबसे पहले शिक्षा के क्षेत्र में हुआ। शिक्षा का प्रयोजन क्या है, शिक्षा किस प्रकार दी जाय, कौन कौन से विषय रक्खे जायँ, शिक्षक की विशेषताएँ तथा शिक्षार्थी की मानसिक पृष्ठभूमि (*Mental background*)—इन सब प्रश्नों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया। यही कारण है कि शिक्षा-मनोविज्ञान अब मनोविज्ञान की एक प्रमुख शाखा बन गई है।

शिक्षा का उद्देश्य हमारे जीवन को ज्ञानात्मक (*Cognitive*), क्रियात्मक (*Conative*) और संवेगात्मक (*Emotive*) दृष्टि से समायोजित बनाना है। यह तभी संभव है जब मानव की बुद्धि और अभिरुचि (*Aptitude*) का ध्यान रखकर शिक्षा दी जावे। ज्ञानात्मक अवस्थाके विकास के लिये बुद्धि-मात्रा (*I. Q.*) का ध्यान रखना, विभिन्न मानसिक शक्तियों—कल्पना, स्मृति, प्रत्यक्षीकरण (जो ज्ञान के आवश्यक अंग हैं)—के उपयुक्त विकास के लिये सुविधाएँ देना, क्रियात्मक अवस्था के विकास के लिये शरीर की माँसपेशियों को बार-बार के अभ्यास से कार्य्य विशेष के लिये कुशल बनाना, संवेगात्मक अवस्थाके विकास के लिये वृत्ति को प्रकृत अवस्था से परिमार्जित कर सुसंस्कृत बनाना और प्रकृत स्वभाव अथवा वृत्ति में संशोधन लाना ही शिक्षा-मनोविज्ञान की मुख्य समस्याएँ हैं। शिक्षा से संवेग परिष्कृत हो जाता है और व्यक्तित्व समायोजित। इससे मनुष्य अपनी शक्ति का व्यय प्रकृत इच्छा की पूर्त्ति में न कर समाजोपयोगी कार्य्य में लगाता है। इस प्रकार शिक्षा का मूल्य व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार से है।

शिक्षण-विधि उपयुक्त बनाने के लिये मनोविज्ञान के कुछ प्रारम्भिक तथा सामान्य नियमों (*Generel basic principles*) को ध्यान में रखना आवश्यक है। ये नियम कल्पना, स्मृति, प्रत्यक्षीकरण, संवेदन, एकाग्रता तथा ज्ञानार्जन संबंधी हैं। ज्ञान के लिये विचार-शक्ति का विकास अनिवार्य्य है और यह बहुत कुछ कल्पना-शक्ति के विकास पर निर्भर है। जिसकी कल्पना का विकास बाल्यावस्था में नहीं हो पाता—वातावरण में दोष या अभाव के कारण प्रोत्साहन नहीं मिल पाता—उसकी विचार-शक्ति कुंठित हो जाती है। यदि बालक में व्यावहारिक कल्पना (*Pragmatic Imagination*) की प्रचुरता हो तो उसे विज्ञान तथा इंजिनियरिंग की शिक्षा दी जा सकती है; सौन्दर्यात्मक कल्पना (*Aesthetic Imagination*) हो तो कला की। बालू के घरौंदे से खेलने वाला बालक विशेषज्ञ या वैज्ञानिक बन सकता है। यही कारण है कि मनोविज्ञान में बालकों को खेल-द्वारा शिक्षा देने का आयोजन है। कल्पना क्या है, इसका जीवन में क्या उपयोग है, तथा इस शक्ति में सुधार-विकास किस प्रकार लाया जा सकता है यह सब मनोविज्ञान का विषय है और इसका व्यवहार शिक्षा में होता है।

कल्पना

स्मृति के विकास के लिये आवश्यक है कि विषय अर्थयुक्त हो, सुसंबद्ध हो, समय के विराम से और समग्र रूप से सीखा जाय। स्मृति की चार विशेषताएँ (*Factors*) हैं : सीखना (*Learning*), धारण (*Retention*), पुनःस्मरण (*Recall*) तथा पहचानना (*Recognition*)। धारणा-शक्ति पैदाइशी गुण है। इसमें वृद्धि नहीं की जा सकती। पर यह बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करता है कि विषय अच्छी तरह सीखा गया है या नहीं। पाठ यदि भली भाँति सीखा गया तो स्वतः मस्तिष्क में स्थान कर लेगा और समय पर सहज ही पुनः स्मरण हो जायगा। स्मृति की अन्य विशेषताओं में वृद्धि की जा सकती है। स्मृति में चयनवृत्ति (*Selection*)

स्मृति

होता है। अनुभूति (*experience*) की हुई भाव-वस्तुओं में से कुछ मस्तिष्क में स्थान कर लेती हैं और कुछ विलीन हो जाती हैं।

विषय अर्थयुक्त रहने पर स्मृति में कहाँ तक सहायता मिलती है यह प्रयोग द्वारा प्रमाणित हुआ है। प्रयोग के लिये दो प्रकार के शब्दों की सूची बनायी गयीः एक में अर्थयुक्त शब्द (*Meaningful Syllables*) रखे गये और दूसरे में अर्थ हीन (*Nonsense Syllables*)। दोनों सूचियों में शब्दों और अक्षरों की संख्या बराबर थी, अंतर केवल यह था कि प्रयोग-पात्र एक में रखे शब्दों का अर्थ समझता था और दूसरे में का नहीं। प्रयोगकर्त्ता ने परीक्षा लेने के निमित्त जैस्ट्रोव स्मृति-यंत्र में पहले अर्थहीन शब्दों की सूची लगाई। प्रयोग-पात्र पहली बार केवल एक शब्द का पुनः स्मरण कर सका। आठ बार दिखलाने के बाद वह दस शब्दों का सही-सही पुनः स्मरण कर सका। जब अर्थयुक्त शब्दों की सूची दिखलायी गयी तो केवल पांच बार देखने पर उसने सब शब्दों का पुनः स्मरण कर लिया। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि अर्थहीन शब्दों को स्मरण करने में अधिक समय लगता है और अधिक आवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है; अर्थयुक्त शब्द कम आवृत्ति में स्मरण हो जाते हैं। अर्थ समझने पर भूलने की संभावना भी कम रह जाती है।

जब किसी विषय-वस्तु का ज्ञान दूसरी विषय-वस्तु से संबद्ध करके कराया जाता है तब उस विषय-वस्तु का स्थान मस्तिष्क में स्थायी बन जाता है और समय पर पुनः स्मरण हो पाता है। संबंध-नियम (*Law of Association*) से यही लाभ है। विद्यार्थियों के एक समूह को पूर्व ज्ञान से संबद्ध करके नई विषय-वस्तु का ज्ञान कराया गया; दूसरे समूह को केवल विषय दिया गया—जो कुछ वे जानते थे उससे संबंध स्थापित नहीं किया गया। तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता लगा कि पहले समूह के बालकों ने अपना पाठ जल्दी सीखा और स्मरण रखा, दूसरे समूह के बालकों को अधिक समय लगा और वे अपना पाठ भूल गये।

संबंध (*Law of Association*) तीन प्रकार से होता है : साहचर्य्य संबंध (*Law of Contiguity*), सादृश्य-संबंध (*Law of similarity*) और वैपरीत्य संबंध (*Law of Contrast*) । साहचर्य्य-संबंध के अनुसार दो या इससे अधिक विषय-वस्तु अथवा घटना का अनुभव एक साथ होने पर एक विषय-वस्तु दूसरी विषय-वस्तु अथवा घटना का स्मरण कराती है । वाटरलू से नेपोलियन, आकर्षण-सिद्धान्त से न्यूटन तथा सत्याग्रह-आन्दोलन से महात्मा गांधी का स्मरण हो आता है । सादृश्य-संबंध के अनुसार एक घटना या विषय-वस्तु से उसी के समान दूसरी घटना या विषय-वस्तु का स्मरण हो आता है । उदाहरणार्थ नैपोलियन से मुसोलिनी का ध्यान आना । वैपरीत्य-संबंध के अनुसार दो विपरीत स्वभाव की वस्तु या घटना में एक का ध्यान आने पर दूसरी का ध्यान आना है । काले से सफेद, युद्ध से शांति तथा दुःख से सुख का ध्यान आना । केवल स्मृति-विकास की ही दृष्टि से नहीं, शिक्षा में संबंध-नियम का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है । इससे बौद्धिक विकास (*Intellectual development*) होता है और विषय ग्राह्य हो जाता है ।

समय के विराम (*Interval of time*) से पाठ कम समय और कम आवृत्ति में स्मरण हो जाता है । कई घंटे तक लगातार कंठाग्र करने का प्रयत्न करने से रुचि नही रह जाती, समय अधिक लगता है, और जल्दी भूल जाता है । पाठ स्मरण करने के लिये यदि १२ घंटे का समय अपेक्षित हो तो एक दिन में ही १२ घंटे तक एक साथ याद करने का प्रयत्न करने से अच्छा यह है कि बारह दिन एक एक घंटे प्रतिदिन कंठाग्र किया जाय । इसके अतिरिक्त स्मृति के लिये समग्र विधि (*Whole Method*) हो, आंशिक (*Part Method*) नहीं । पूरा पाठ एक साथ पढ़ कर और अर्थ लगाकर कंठाग्र का प्रयत्न करने पर पुनःस्मरण (*Recall*) करने में भूलने की कम संभावना रहती है; पाठ को कई भागों

में बाँट कर, एक एक पदको अलग अलग स्मरण करने से पुनःस्मरण में भूल होने की अधिक संभावना रहती है। कविता के एक पद का पुनःस्मरण तो हो आता है पर दूसरा पद स्मरण करने का प्रयास करते समय पहला शब्द ध्यान नहीं आता। बात यह है कि आंशिक विधि (*Part Method*) में एक पद और दूसरे पद में संबंध नहीं बन पाता। समग्र-विधि (*Whole Method*) में पूरी कविता क्रमिक रुपसे अपनी रेखा मस्तिष्क में बना लेती है।

शिक्षा-विधि निर्धारित करते समय इन्द्रिय-ज्ञान की विशेषता का भी ध्यान रखना चाहिए। ज्ञान का प्रमुख सोपान प्रत्यक्षीकरण (*Perception*) है। प्रत्यक्षीकरण का आधार संवेदन (*Sensation*) है।

प्रत्यक्षीकरण और संवेदन

संवेदन केवल इन्द्रिय और बाह्य या आंतरिक उत्तेजन (*external and internal stimulus*) के सम्पर्क का बोध-अनुभव है। संवेदन में मनुष्य किसी विषय-वस्तु की विशेषता नहीं पहचान पाता। मोटर का भोंपा सुना, श्रवण-संवेदन (*Auditory sensation*) हुआ, पर वह इस ध्वनि को कि यह मोटर का भोंपा है नहीं पहचान पाता। जब वह पहचान लेता है कि यह मोटर का भोंपा है तब यह अनुभव संवेदन न रहकर प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण में उत्तेजन (*Stimulus*) की व्याख्या (*interpretation*) हुई रहती है।

प्रत्यक्षीकरण (*Perception*) पाँच प्रकार का होता है : दृश्य (*Visual Perception*), श्रवण (*Auditory Perception*), स्पर्श (*Tactual Perception*), घ्राण (*Smell Perception*), और स्वाद (*Taste Perception*) विषयक। यही कारण है कि श्रव्य-दृश्य शिक्षा-प्रणाली (*Audio-Visual System*) अधिक उत्तम है। प्रारम्भिक शिक्षा (*Primary Education*) के लिए तो यह अनिवार्य्य है। बालक और प्रौढ़ दोनों पर इसका सफलता से प्रयोग किया जा

सकता है। बात यह है कि स्थूल वस्तु (*Concrete object*) को देखकर उसकी जानकारी (*Concept*) करना सरल है। सूक्ष्म विचार की शक्ति (*Power of Abstract Thinking*) हर एक मे नहीं होती। जिसकी बुद्धि मंद है वह तो केवल स्थूल स्तर पर किसी वस्तु के बारे मे विचार कर सकता है। इस श्रव्य दृश्य शिक्षा-प्रणाली मे सूक्ष्म विशेषताओं (*abstract qualities*) की भी कल्पना स्थूल वस्तु से सबधित कर निर्मित की जाती है। सौम्य इमानदार व्यक्ति का दृष्टान्त दिया और इमानदारी की कल्पना (*Concept*) बनी। जो कल्पना-विचार (*Concept*) स्थूल वस्तु के, बाह्य हो या आतरिक, ज्ञान बिना ही बनती है, वह धुँधली और अपरिपक्व रह जाती है। विचार-कल्पना का स्पष्ट होना आवश्यक है।

प्रत्येक व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ समान तीव्र नहीं रहतीं। किसी की दृश्य-इन्द्रिय तीव्र है, दूसरे की श्रवण और किसी की त्वचा। जिस व्यक्ति की दृश्य इन्द्रिय तीव्र है उसके लिये शिक्षा मे प्रकार-प्रकार के रंग और आकार मे वस्तुएँ दी जाँय। इससे उसे रग पहचानना आयेगा, उस वस्तु के स्वभाव का ज्ञान होगा और एक वस्तु को दूसरे से पृथक् कर सकेगा। तीव्र श्रवण-इन्द्रिय वाले व्यक्ति को शिक्षा मे भिन्न-भिन्न ताल (*Rhythm*), स्वराघात (*Pitch*) और स्पदन (*Vibration*) की ध्वनि सुनाने का प्रबन्ध किया जाय। इनके लिए भाषण अधिक लाभप्रद है।

यों तो शिक्षा मे सभी इन्द्रियों का अपना अपना उपयोग है और इन्हे संवेदनशील (*Sensitive*) बनाने के लिये उपयुक्त व्यवस्था की आवश्यकता भी है, पर जिस व्यक्ति की जो इन्द्रिय संवेदनशील है उसका पता लगाकर उस इंद्रिय-द्वारा यदि उसे शिक्षा दिया जाय तो अधिक उत्कृष्ट है। यंत्र-द्वारा इन्द्रियो की तीव्रता का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

शिक्षा में एकाग्रता के नियमन की ओर भी ध्यान देना आवश्यक

है। कुछ बाह्य (*objective*) और आभ्यन्तरिक (*Subjective*) कारण हैं जिनको ध्यान में रख कर शिक्षा-प्रणाली निश्चित करने से बालक का ध्यान बरबस विषय की ओर खिंच जा सकता है। नयापन (*Novelty*), गति (*Movement*), तीव्रता (*Intensity*) और वस्तु-विशेष का गुण (*quality*) बाह्य कारण हैं। रुचि (*Interest*), पैतृक विशेषता (*Heredity*) और मन की स्थिति (*Mental Attitude*) आभ्यन्तरिक कारण हैं। नयी वस्तुओं को देखकर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट हो जाता है : नयी पोशाक, नयी पुस्तक, नयी मोटर ध्यान खींचती हैं क्योंकि मनुष्य परिवर्तन-प्रिय है। जो वस्तुएँ गति में हैं, जैसे टूटता तारा, वे भी ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। तेज रोशनी, तेज आवाज भी ध्यान खींच लेती हैं। इसी प्रकार कुछ वस्तुओं का ऐसा विशेष गुण होता है कि वे ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। कड़वा स्वाद लगते ही मनुष्य कह उठता है कि यह कड़वी है।

एकाग्रता

आभ्यन्तरिक कारण में रुचि प्रमुख है। मनुष्य का मन उसी विषय पर एकाग्र होता है जिसमें उसकी रुचि होती है। शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की हो कि अरुचिकर विषय भी रुचिकर बनाकर शिक्षार्थी के सम्मुख प्रस्तुत किए जायँ। एक बार ध्यान आकर्षित कर लेने पर मन अवश्य एकाग्र हो जाता है। इसलिये कुशल शिक्षक बालक की रुचि को समझते हुए व्यवस्था करता है। जिन कारणों से मन में एकाग्रता नहीं आ पाती उन्हें निवारण कर देना चाहिये।

सीखना

शिक्षामें सीखने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (*Psychological Principles cf earning*) का बहुत अधिक महत्त्व है। इन्हें ध्यान में रखने से मनुष्य कम से कम प्रयास और मानसिक थकान (*Mental Fatigue*) से जल्दी से जल्दी किसी भी

"Interest is latent attention ; attention is interest in action."

विषय-वस्तु का बोध कर सकता है। मनुष्य का ज्ञान और उसकी कार्यनिपुणता उसके सीखने पर निर्भर है। किसी व्यक्ति में सीखने की समर्थता अधिक रहती है और किसी में कम। यह समर्थता उस व्यक्ति विशेष की बुद्धि और उसके स्वभाव के अनुसार होती है। जिसमें सीखने की समर्थता अधिक है वह अनुभव से अपने व्यवहार में परिवर्तन लाकर अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है। सीखने का अर्थ व्यवहार और कुशलता (*Skill*) का संशोधन है।*

सीखना विषय पर अमेरिका के मनोवैज्ञानिक थौर्नडाइक और रूस के पावलॉव के प्रयोग महत्व के है। इन्होने पशुओ पर प्रयोग करके सीखने की नयी विधि का अनुसन्धान किया।

सीखने (*Learning*) की मुख्य विधियाँ—प्रयास और त्रुटि (*Trial & Error*), अन्तर्दृष्टि (*Insight*) और अनुकरण (*Imitation*) है। 'प्रयास और त्रुटि' विधि के प्रवर्त्तक थौर्नडाइक है। थौर्नडाइक के अनुसार अभ्यास सिद्धान्त (*Law of Exercise*) और सुखानुभव सिद्धान्त (*Lawof Effect*) से सीखना (*Learning*) संचालित है। जब कोई कार्य बार बार किया जाता है तब वह सीख लिया जाता है। पहले किसी कार्य को करने के लिये प्रयास किया जाता है। प्रयास में भूल होती हैं। पर बार बार करने के बाद भूल नहीं होती और वह कार्य ठीक होने लगता है। थौर्नडाइक ने चूहे पर प्रयोग करने के लिये एक विशेष प्रकार की चूहेदानी बनवाई। इसमें बाहर निकलने के लिये कई रास्ते बने थे : एक रास्ते से बाहर निकलने का उपक्रम करने पर बिजली का कंपन

---

*Learning is modification of behaviour and skill.

"Any activity may be called learning in so far as it develops the individual in any way good or bad and makes his environment and experiences different from what it would otherwise have been"—Woodworth.

होता था; दूसरे से जाने पर बंद स्थान मिलता और तीसरे रास्ते से चूहा सीधे बाहर निकल पाता। प्रारम्भ में चूहे ने भूल की; सीधा रास्ता पकड़कर एकबारगी बाहर न निकल पाया। बाहर निकलने के लिये प्रत्येक रास्ते से निकलने का प्रयास किया। एक से निराश होकर दूसरा अजमाया। बाद में जब उस चूहे को फिर उसी स्थान पर रखा गया, उसने कम भूलें की और थोड़े ही अंग-संचालन (*bodily movement*) से उसे सही रास्ता मिल गया। मार्के की बात यह है कि चूहा सब प्रकार का अंग-संचालन तभी करता जब वह भूखा रहता। भोजन की इच्छा न रहने पर वह भोज्य पदार्थ तक पहुँचने का प्रयास न करता; भोज्य पदार्थ चूहेदानी के बाहर रखा देखकर भी अपने स्थान पर बैठा रहता। यह सुख अनुभव (*Law of Effect*) का प्रमाण है। इस प्रकार सीखना मुख्यतः अभ्यास सिद्धान्त (*Law of Exercise*) और सुखानुभव सिद्धान्त (*Law of Effect*) से संचालित होता है। प्रयास और त्रुटि के द्वारा मनुष्य हर एक कार्य बौद्धिक (*Intellectual*) हो या यांत्रिक (*Mechanical*) सीखता चलता है और यह सीखना ऐन्द्रिक-स्तर (*Perceptual level*) पर होता है।

प्रयास और त्रुटि

थौर्नडाइक द्वारा प्रतिपादित सीखने की इस नई विधि पर आक्षेप किया गया। उन्होंने 'सीखना' को केवल एक यांत्रिक क्रिया समझा। सीखने के उद्देश्य (*Purposiveness*) की ओर ध्यान ही न दिया। वास्तव में मनुष्य का सीखना केवल अभ्यास मात्र नहीं है और न केवल सुखभाव का अनुभव। नृत्य करना, क्रिकेट खेलना, चित्र बनाना इत्यादि के पीछे उद्देश्य है। कोहलर का कथन है कि थौर्नडाइक का यह कहना ठीक नहीं कि प्रयास और त्रुटि की विधि सीखने के लिये पर्याप्त है। इसका अर्थ 'सीखना' केवल निम्न स्तर की क्रिया (*Low level in Intelligence*) समझना है। ऊँचे स्तर पर जहाँ अधिक बुद्धि, विचार और

तर्क की आवश्यकता पड़ती है, प्रयास और त्रुटि से नहीं सीखा जा सकता। प्रयास और त्रुटि से मनुष्य कुछ कार्य अवश्य सीखता है; पर इससे सभी प्रकार का कार्य नहीं सीखा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस विधि का प्रयोग अधिकतर केवल अल्प बुद्धि के व्यक्तियों से किया जाता है।

अन्तर्दृष्टि

सीखने की दूसरी विधि अन्तर्दृष्टि (*Insight*) है। तीव्र बुद्धि के व्यक्ति किसी विषय-कार्य को अन्तर्दृष्टि से सीखते है। कुछ विशेष वर्ग के कार्य को सीखने के लिए तो अन्तर्दृष्टि की विधि अनिवार्य्य है। वैज्ञानिक, दार्शनिक और इञ्जिनिअर अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करता है; हाथ का कार्य (*Manual work*) प्रयास और त्रुटि से सीखा जा सकता है। अन्तर्दृष्टि की विधि की महत्ता कोहलर ने विशेष रूप से बतलाई है। बात यह है कि पशु से मनुष्य ऊँचा है। उसमे तर्क-वितर्क तथा विचारने की शक्ति होती है। पशु तो शरीर के अग-सचालन से सीखता है; मनुष्य का सीखना विचार के स्तर (*Ideational level*) पर होता है।

अनुकरण

उपर्युक्त दो विधियो के अतिरिक्त सीखने की तीसरी विधि अनुकरण (*Imitation*) है। शैशवावस्था मे बालक माता-पिता के रहन-सहन, रग-ढग, बोल-चाल से चलना फिरना और बोलना सीखता है। फिर मित्रो तथा अन्य संबंधियों के सम्पर्क मे आता है और उनका अनुकरण करता है। इस विधि से पशु भी बहुत कुछ सीखता है।

कभी-कभी विषय कंठाग्र विधि (*Rote method of Learning*) से भी सीखा जाता है। कभी तो कंठाग्र करने मे वह समग्र विधि (*Whole Method*) का प्रयोग करता है और कभी आंशिक (*Part Method*) का। जब विषय को संबद्ध करके और अर्थ समझकर कंठाग्र करने का प्रयत्न किया जाता है तब सीखना आसान होता है और विशेष रूप से लाभ होता है। इन सब पर स्मृति के प्रसग में प्रकाश डाला जा चुका है।

मनुष्य जब कभी कुछ सीखना प्रारम्भ करता है तो प्रारम्भ में सीखने की गति कम रहती है, फिर गति बढ़ती है। कुछ समय के बाद गति स्थिर पड़ जाती है। स्थिर गति कुछ दूर तक चलती रहती है, और फिर कम होने लगती है। स्थिर होकर कुछ दूर तक एक गति से सीखने की अवस्था को 'सीखने का पठार' (*Plateau of Learning*) कहते हैं।

सीखने का पठार

इस पठार की दो विशेषताएँ हैं: एक, यह उस अवस्था का द्योतक है जहाँ व्यक्ति किसी कार्य को सीखने में उन्नति की आखरी सीमा को पहुँच जाता है, और उसे इसको कायम रखने के लिए नये संबंध (*Co-ordination*) बनाने की आवश्यकता पड़ती है; दो, सीखने में गति का कम होना रुचि के अभाव का सूचक है। विषय में रुचि उत्पन्न करने से सीखने की गति कम होने से रोकी जा सकती है।

शिक्षण-विधि पर प्रकाश डालने के पश्चात् शिक्षा-विषय का प्रश्न उठता है। शिक्षा-विषय निर्धारित करते समय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए: एक, शिक्षार्थी के इच्छानुगत भाव (*Motivation*) के अनुकूल विषय हो; दो, ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*) भी किया जा सके।

शिक्षा विषय

शिक्षा की सफलता इच्छा (*Motivation*) पर निर्भर है। जब सीखने का विषय इच्छानुगत भाव से संबद्ध रहता है तब अध्ययन में सफलता होती है। इच्छा न रहने पर सीखना संभव नहीं। कुछ सीखा भी तो सीखने की गति बहुत कम रहती है। यह इस प्रयोग द्वारा भी प्रमाणित किया गया कि विद्यार्थियों के दो समूह बनाये गये: एक समूह के विद्यार्थियों को शिक्षा देने की योजना इच्छाको उत्तेजन देते हुये किया गया, उन्नति करने के लिये प्रोत्साहन दिया गया, और ऐसी विधि ढूँढ़ निकालने का आदेश किया गया जिससे

इच्छानुगत भाव

कार्य सरलता और सफलता से हो ; दूसरे समूह को यह सब प्रोत्साहन नहीं दिया गया। दोनों समूहों को निम्नलिखित कार्य परीक्षा के लिये दिया गया : 'ए' अक्षर को ठीक ठीक और जल्दी से जल्दी लिखना; असंबद्ध शब्दों में से कुछ अक्षरों को काटना और जोड़ना इत्यादि। पहले समूह के बालकों की प्रतिक्रिया जल्दी और ठीक हुई, दूसरे की देर से और गलतियों से भरी। इसके बाद पहले समूह को प्रोत्साहन नहीं दिया गया और दूसरे को दिया गया। प्रतिक्रिया पहली बार से विपरीत हुई। दूसरे समूह के विद्यार्थियों ने कुशलता दिखलाई।

इच्छानुगत भाव (*Motivation*) दो प्रकार के होते हैं : जन्मजात (*Innate Motivation*) और अर्जित (*Derived Motivation*)। जन्मजात इच्छा की पृष्ठभूमि में प्रकृत वृत्ति (*innate urge*) प्रेरक रूप में रहती है। प्रकृत वृत्ति को बाह्य और आभ्यन्तरिक भाव-वस्तुओं (*Idea-objects*) से उत्तेजन मिलता रहता है। मनुष्य में पैदायशी सीमाएँ (*Hereditary limitations*) हैं। प्रकृत वृत्ति से प्रेरित होने के कारण जन्मजात इच्छानुगत भाव में विशेष परिवर्तन संभव नहीं ; अर्जित इच्छा (*Derived Motivations*) को जो रूप चाहे दिया जा सकता है। इच्छाएँ प्रभावशील बनाई जा सकती हैं और उनका निवारण (*elimination*) भी किया जा सकता है। यदि शिक्षा का विषय जन्मजात इच्छानुगत क्रिया के अनुकूल रहा तो कोई प्रश्न नहीं उठता; जन्मजात इच्छा न रहने पर इच्छा दो प्रकार से अर्जित की जा सकती है :

१. जिस विषय-वस्तु में इच्छा (*Motivation*) उत्पन्न करना है उसे बालक को उस विषय-वस्तु से संबद्ध करके सिखलाया जाय जिसमें उसकी आरम्भ से पैदायशी रुचि है। जिज्ञासा की वृत्ति (*Instinct of Curiosity*) तीव्र होने के कारण बालक जन्म से नया कार्य करने की इच्छा करता है; नयी वस्तुओं को देखकर तबदीली करना चाहता है। इस वृत्ति को उत्तेजित कर खोज के काम 'फ़ील्ड-वर्क' में उसकी इच्छा-रुचि उत्पन्न

की जा सकती है। पहले तो उत्सुकतावश वह निरीक्षण करेगा और फिर उस कार्यमें उसकी इच्छा-रुचि उत्पन्न हो जायगी। जिसकी रुचि सफ़र में हो और इतिहास में रुचि न हो, उसे सफ़र में ऐतिहासिक स्थान दिखलाकर इतिहास के अध्ययनमें उसकी इच्छा उत्पन्न की जा सकती है।

२. किसी भी विषय-वस्तु में भविष्य का लाभारोपण (*projection*) करके भी इच्छा उत्पन्न की जा सकती है। उज्ज्वल भविष्य की आशा में उस विषय-वस्तु के लिये इच्छा हो जाना स्वाभाविक है। अर्जित इच्छा करने की यह 'आरोपण-विधि' है।

इस प्रकार जन्मजात वृत्ति को उत्तेजित करके और भविष्य के लाभ का आश्वासन देकर किसी विषय-वस्तु के लिये इच्छा उत्पन्न की जा सकती है।

हर एक व्यक्ति की इच्छा (*Motivation*) एक रूप की नहीं होती। स्वभाव (*temperament*) और वातावरण (*environment*) के कारण पृथकृता आ जाती है। किसी व्यक्ति में सामाजिक इच्छा (*social motive*) तीव्र रहती है, किसी में आर्थिक (*economic motive*)। वातावरण के कारण एक की इच्छा का तो विकास हो जाता है और दूसरे का नहीं हो पाता।

अब इस बात पर प्रकाश डालना है कि शिक्षा के संबंध में इच्छानुगत भाव (*Motivation*) पर प्रतियोगिता (*Competition*), सहयोग (*Co-operation*), और सफलता (*Success*) का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है।

प्रतियोगिता

प्रतियोगिता की प्रणाली रहने पर बालक की इच्छा जिस विषय को सीखने में नहीं रहती उसमें भी उत्पन्न हो जाती है। वह प्रयास करता है और उसका मानसिक विकास तीव्र गति से होता है। प्रयोग करने पर पता लगा है कि प्रतियोगिता प्रणाली से बालक को ७४ प्रतिशत लाभ होता है। प्रतियोगिता

An Introduction to Applied Psychology :—C. R. Griffith P. 67.

प्रणाली न रहने पर बालक [निष्क्रिय बन जाता है और उसकी बुद्धि कुंठित पड़ जा सकती है।

प्रतियोगिता के प्रभाव पड़ने का कारण मानव की आत्म-प्राधान्य की वृत्ति है। हर एक व्यक्ति में अपने को प्रमुख दिखलाने तथा दूसरों पर प्रभुता स्थापित करने की स्वाभाविक वृत्ति होती है। इस वृत्ति को तुष्ट करने की इच्छा से ही मनुष्य प्रतियोगिताओं में भाग लेता है। आकांक्षा होने पर ही मनुष्य उद्यम करता है। प्रतियोगिता आकांक्षा का सूचक है, प्रेरक है। पर भूख (*Hunger*), काम (*Sex*) तथा संघ (*Gregariousness*) की वृत्तियों की तरह प्रतियोगिता कोई वृत्ति नहीं।

सहयोग

सहयोग (*Co-operation*) का भी इच्छा पर प्रभाव पड़ता है। मानव समाज-प्रेमी है : संघ में रहने की उसमें एक स्वाभाविक वृत्ति है। जिस समाज में वह पला है उसी के अनुसार वह सब क्रिया व्यापार तथा व्यवहार करता है। अन्य व्यक्तियों के संपर्क से जिस विषय-वस्तु में इच्छानुगत भाव नहीं रहता उसमें भी उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य्य है कि अर्जित इच्छा (*Derived Motivation*) बहुत कुछ सामाजिक वातावरण पर निर्भर है। अलग-अलग जाति और देश के व्यक्तियों का सामाजिक वातावरण (*Social environment*) अलग-अलग होता है। इसीलिये अर्जित इच्छा पृथक्-पृथक् होती है। जिस बालक का पालन-पोषण परिवार में हुआ है उसकी इच्छा उस बालक से निश्चित भिन्न होगी जिसका जीवन एकाकी रहा है।

सफलता

सहयोग की तरह इच्छा के विकास पर सफलता का भी प्रभाव पड़ता है। जिस विषय-वस्तु के लिये इच्छा नहीं रहती उसमें इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सफलता भी अर्जित इच्छा (*Derived Motivation*) का कारण है। सफलता मिलने से प्रोत्साहन मिलता है; असफल होने से मनुष्य उस

विषय से विमुख हो जाता है। जन्मजात इच्छा रही भी तो वह धुँधली पड़ जाती है। एक बालक में बचपन से ही पुस्तक अध्ययन करने की तीव्र जिज्ञासा थी। वह अधिकतर बैठा पुस्तकें पढ़ा करता और समझने का प्रयास करता। अध्ययन में उसकी रुचि तो थी पर बुद्धि नहीं थी। इस कारण प्रयत्न करने पर भी वह ठीक-ठीक अर्थ न समझ पाता। उसके साथी मखौल करते। असफलता मिलने का परिणाम यह हुआ कि अध्ययन के लिये बालक की जो तीव्र इच्छा थी वह कम हो गई और बालक अध्ययन छोड़कर व्यापार करने लगा।

सरणि ५२*—चार प्रकार के इच्छानुगत भाववाले समूहों के द्वारा गणित में की हुई औसत दैनिक प्रगति का लेखा

दिवस	इच्छानुगत भाववाले समूह			
	नियन्त्रित	प्रशंसित	तिरस्कृत	उपेक्षित
प्रथम	११.८	११.८	११.८	११.८
द्वितीय	१२.६	१६.६	१६.६	१४.२
तृतीय	११.३	१८.८	१४.३	१३.३
चतुर्थ	१०.५	१८.८	१३.३	१२.६
पंचम	११.४	२०.२	१४.२	१२.४
औसत	११.५२	१७.२४	१४.०४	१२.६२
औसत परिणाम	—.२८	५.४४	२.२४	१.१२

इच्छानुगत भाव की समस्या शिक्षा-क्षेत्र में ही नहीं चिकित्सा, न्याय और व्यवसाय-क्षेत्र में भी उठती है। इच्छा का अत्यधिक विकास

* Psychology in Human Affairs—Gray

(*overdevelopment*) होने से मनुष्य मानसिक रोग का शिकार होता है; अनुपयुक्त वातावरण होने से दोषयुक्त इच्छा बना लेने पर वह अपराध करता है; और इच्छा-प्रेरणा (*incentive*) के अभाव में वह कोई भी व्यवसाय सफलता से नहीं कर सकता। इसपर विस्तार से आगे प्रकाश डाला जायगा।

शिक्षा मनोविज्ञान का दूसरा प्रमुख प्रश्न ज्ञानार्जन के परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*) का है। इसपर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टि से विचार किया गया है। इसका अर्थ है एक स्थिति में प्राप्त ज्ञान (*Knowledge*) का प्रयोग दूसरी स्थिति में कहाँ तक हो सकता है। इस संबन्ध में मुख्य तीन प्रश्न हैं :

ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग

१. ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*) किस प्रकार किया जा सकता है ?

२. किस विषय का परत्र उपयोग अधिक होता है ? (*What mental learning transfers most ?*)

३. यह परत्र उपयोग किस स्थिति में होता है ?

ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*) हो सके इसके लिये दो बातें हैं; एक, भविष्य की आवश्यकता का ध्यान रखना; दो, योजना बनाना। शिक्षा का विषय भविष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल ही हो। जब कभी किसी विषय की—भूगोल हो या इतिहास, गणित हो या दस्तकारी—शिक्षा दी जावे तो इस बात का ध्यान रहे कि उस विषय का ज्ञान उस व्यक्ति के जीवन को कहाँ तक समृद्ध बना सकता है। व्यावहारिक ज्ञान (*Practical knowledge*) सदैव सैद्धान्तिक ज्ञान (*Theoretical knowledge*) से अधिक उपयुक्त है। विषय व्यावहारिक होने पर ही उसका परत्र उपयोग किया जा सकता है।

दूसरी बात योजना बनाने की है। यह सोचना गलत है कि शिक्षा देते जाओ और अवसर आने पर अपने आप उपयोग होवेगा। भविष्य का ध्यान रखकर शिक्षा के विषय की योजना निर्धारित करना उत्कृष्ट है। हैस्कल ने प्रयोग द्वारा भी यह प्रमाणित किया है। उन्होंने शिक्षार्थियों के दो समूह बनाये और उन्हें दो प्रकार से लैटिन भाषा सिखलाने का प्रबन्ध किया। एक समूह को अंग्रेजी से संयुक्त करके लैटिन भाषा का ज्ञान कराने की व्यवस्था की, दूसरे समूह के लिए पुराना ढंग रखा—लैटिन भाषा को अंग्रेजी से संयुक्त नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर पहले समूह के शिक्षार्थियों ने अंग्रेजी शब्द दूसरे समूह से आधे समय में सीखे और इनमें अंग्रेजी के शब्दों को सीखने की उत्सुकता भी उत्पन्न हो गयी।

सरणि ५४*—केवल लैटिन पढ़नेवाले तथा अंग्रेजी के संबंध से लैटिन पढ़नेवाले छात्रों की अंग्रेजी शब्द-भांडार-वृद्धि में प्रगति।

श्रेणी	संख्या	अंग्रेजी शब्द-भांडार-वृद्धि में प्रगति	
		लैटिन मूलक	अलैटिन मूलक
रूढ़ लैटिन	११८	४·०५	२·७७
व्यावहारिक लैटिन	११८	८·१२	३·४६

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयोग-मूल्य (*Transfer value*) उस विषय में अधिक होता है जिसमें किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा-रुचि हो। उपयोग बहुत कुछ रुचि पर निर्भर है, विषय पर नहीं। पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की रुचि का विषय पृथक्-पृथक् होता है। किसी की रुचि विज्ञान में है, किसी की गणित में और किसी की संगीत में। यदि रुचि विज्ञान में है और विज्ञान की शिक्षा भी दी गयी है तब विज्ञान की शिक्षा का परत्र उपयोग (*Transfer value*) अधिक होगा; गणित में रुचि रहने पर गणित

* Psychology in Human Affairs—Gray.

का; संगीत में रुचि रहने पर संगीत का। जब विषय का आत्मीयकरण (*Assimilation*) होता है तभी समय पर उसका उपयोग होता है। थौर्नडाइक ने कई पाठशालाओं के ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों पर प्रयोग करके इसे प्रमाणित किया। यह बात विशेष कर इच्छा-रुचि के जन्मजात होनेपर घटती है।

इसके अतिरिक्त, सब उपार्जित शिक्षा का उपयोग नहीं होता। जिस विषय का ज्ञान व्यावहारिक जीवन में आवश्यक है और हर घड़ी उपयोग होता रहता है, उसमें परत्र उपयोग-मूल्य अधिक रहता है। स्कार्फ ने प्रयोग के लिये बालकों को दो वर्गों में विभाजित किया: एक वर्ग में वे बालक थे जिन्हें स्वास्थ्यरक्षा की शिक्षा मिली थी—जिनके मन में स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने की धारणा बन चुकी थी। दूसरे समूह को इसका कुछ ज्ञान नहीं था। प्रयोग करने के बाद स्कार्फ ने पाया कि जिन बालकों को स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा मिली थी वे स्वतः स्वास्थ्य-वर्धक भोजन करते; जिन्हें इसकी शिक्षा नहीं मिली थीं वे मनमाना भोजन करते, भले ही वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक क्यों न हो।

सरणि ५८*—विद्यालय-पाठशाला में भोज्य पक्वान्नों के चुनाव पर स्वास्थ्य-शिक्षण का परत्र प्रभाव।

भोजन	पहले	पीछे	प्रतिशत परिणाम
दूध (आधी पिन्ट)	४.६२४	५.६६७	२३
सफेद रोटी	१०.०६४	८.७०४	१४
भूरी रोटी	१.०२०	२.२१२	११७
सलाद	६.८०	६.०१	३३

* Psychology in Human Affairs—Gray.

हैमलिन ने प्रयोग द्वारा यह दिखलाया कि जिसने बाल्यावस्था में कृषि-शिक्षा पाई और युवावस्था में पहुँचकर कृषि-व्यवसाय किया उसकी कृषि-शिक्षा का परत्र उपयोग अधिक हुआ।

सरणि ५.७—कृषि-शिक्षण का लेग्यू में बोए हुये खेतों के प्रतिशत पर के प्रभाव का विवरण।

श्रेणियाँ	प्रथम परीक्षण	द्वितीय परीक्षण	परिणाम
नहीं सिखाये हुये पड़ोसी	६.७	८.१	१.४
पूर्व कृषि-शिक्षा-प्राप्त छात्र	११	१६.४	५.४

विषय का ज्ञान पुराने विषय से संबद्ध करके सीखने पर मनुष्य का मस्तिष्क मोटर के अंजन की तरह सिद्ध हो जाता है और वह नयी परिस्थिति में अपने पूर्व ज्ञान-अनुभव का प्रयोग करता है। जब विद्यार्थी बिना उद्देश्य ही किसी विषय को सीखता है—विषय को केवल कंठाग्र करता है—तब उसकी शिक्षा का उपयोग नहीं होता।

शिक्षा का उपयोग करना विद्यार्थी के बुद्धि पर भी निर्भर है। बुद्धि अधिक होने पर शिक्षा का उपयोग होता है; बुद्धि मंद होने पर नहीं। वर्नर ने पृथक्-पृथक् बुद्धि के बालकों की परीक्षा ली। एक वर्ग के बालक अंग्रेज़ी भाषा से परिचित थे; दूसरे वर्ग के नहीं। परीक्षा लेने पर पता चला कि अंग्रेज़ी भाषा से परिचित बालकों की बुद्धि-मात्रा (*I. Q.*) अधिक थी और इनकी शिक्षा में भावात्मक परत्र उपयोग-मूल्य (*Positive*

Transfer value) था; दूसरे वर्ग के बालको की बुद्धि-मात्रा कम थी और इनकी शिक्षा मे भावात्मक परत्र उपयोग नहीं था।

इसके अतिरिक्त, परत्र उपयोग शिक्षा-विधि पर भी निर्भर करता है। जब शिक्षा-विधि उत्कृष्ट रहती है शिक्षा के परत्र उपयोग की अधिक सभावना रहती है। ओवरमैन ने विद्यार्थियो पर निम्नलिखित चार विधियो का यह जानने के लिये प्रयोग किया कि इनमे से कौन सी विधि सबसे उत्कृष्ट है। पहली विधि मे शिक्षक विद्यार्थी को जो कुछ सिखलाना चाहता है सीधे-सीधे बतला देता है : दो मे बारह जोड़ो, चार में आठ से गुणा करो। वह विषयको पुराने विषय से जिसका बालक को बोध है संबद्ध नहीं करता और सीखने का प्रयोजन भी नहीं बतलाता। दूसरी विधि मे शिक्षक सब विद्यार्थियों को प्रमाणित तथ्यो (*Hypotheses*) के आधार पर विवेचना (*Explanation*) देने के लिये प्रोत्साहन देता है। फलतः आगे चलकर विद्यार्थी अपनी शिक्षा का उपयोग समस्या सुलझाने मे कर पाता है। तीसरी विधि मे शिक्षक विवरण (*explanation*) देता है और विद्यार्थी को विवेचना द्वारा सिद्धान्त (*generalisation*) निकालना पड़ता है। सिद्धान्त निकालने का प्रयास करने से विद्यार्थी मे तर्क और विचार-शक्ति का विकास होता है। इसी प्रयोजन से यह विधि बनाई गयी है। चौथी विधि मे शिक्षक अपने विद्यार्थी को विषय का विवेचन (*explanation*) और सिद्धान्त (*generalisation*) दोनो देता है।

उपर्युक्त शिक्षा-विधियो का विद्यार्थी पर प्रयोग करके ओवरमैन ने यह निष्कर्ष निकाला कि चौथी विधि मे परत्र उपयोग सबसे अधिक है। पहली शिक्षा-विधि सूचक मात्र है। उसमे उपयोग का ध्यान नहीं रखा गया है। जब विद्यार्थी के सम्मुख विषय का विवेचन और सिद्धान्त दोनों रखा जाता है, वह उनपर बिचार करता है और अपने ज्ञान को उपयोग में लाने की योजना बनाता है।

ज्ञानार्जन के परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*) के संबंध में

कालेज के विद्यार्थियों पर प्रयोग करके वुडरो ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह शिक्षा के विषय की उपयोगिता पर निर्भर है। इसके लिये विद्यार्थियों में बुद्धि-मात्रा का अधिक होना आवश्यक है, और साथ ही शिक्षा व्यावहारिक, जीवन से संबद्ध और सुसंस्कृत हो।

शिक्षा की विधि और उसके विषय पर विचार करने के पश्चात् शिक्षक और शिक्षार्थी का प्रश्न उठता है। शिक्षा की सफलता शिक्षक के हाथ में है। शिक्षक वास्तव में शिक्षार्थी के वातावरण का मुख्य अंग है और उसके मनोभाव तथा कार्य-कुशलता के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। उसका कार्य उपयुक्त विषय-वस्तु द्वारा शिक्षार्थी के मानसिक विकास के लिये उसे उत्तेजन देना है। तभी उसकी स्मृति, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि शक्तियों का विकास होवेगा। जिस प्रकार शरीर के लिये भोजन और व्यायाम की आवश्यकता है उसी प्रकार मन के क्रिया-व्यापार और भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास के लिये उपयुक्त सुविधा और व्यवस्था। तब प्रतिक्रिया अपने आप होती है। शिक्षक के सहयोग से शिक्षार्थी की छिपी-ढकी शक्ति (*latent traits*) का अधिक से अधिक उपयोग हो पाता है। उसका बौद्धिक विकास होता है। उपयुक्त विषय चुनने के लिये शिक्षक को यह ज्ञान रहे कि शिक्षार्थी का मानसिक विकास का स्तर (*mental stage of development*) कहाँ तक पहुँचा है। अन्यथा, संभव है कि वह शिक्षार्थी को उस स्तर की शिक्षा देना प्रारम्भ करे जो उसके मस्तिष्क के पहुँच के बाहर हो या उसके विकास से नीचे स्तर का हो। उसका कार्य शिक्षार्थी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना भी है। उसे शिक्षार्थी के मानसिक क्रिया-व्यापार को समझकर अपना व्यवहार निश्चित करना चाहिए। यह सब तभी संभव है जब उसमें एक कुशल मनोवैज्ञानिक की वृत्ति होगी।

शिक्षक

इसके अतिरिक्त, शिक्षक को शिक्षार्थी में विषय-वस्तुके प्रति इच्छानुगत भाव (*Motivation*) उत्पन्न करना है। शिक्षार्थी को जब शिक्षक की ओर

से प्रोत्साहन नहीं मिलता, उसका इच्छानुगतभाव प्रायः उन विषयों के लिये भी अवशेष नहीं रह जाता जिनकी ओर उसका जन्म से झुकाव है और जो उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समृद्ध बना सकते है। यदि शिक्षक कुशल मनोवैज्ञानिक हुआ तो इच्छानुगत भाव (*Motivation*) की समस्या स्वतः सुलझ जायगी, शिक्षार्थी को प्रेरणा मिलेगी और वह अधिक से अधिक लाभ उठा सकेगा।

शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी में स्थायी संवेग (*Sentiment*) का निर्माण भी करना है। इसके लिये शिक्षक को मानव की वृत्ति के बारे में सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है। सफल शिक्षक बालक की प्रकृत वृत्ति तौलता है, समझता है। उसे यह भी ज्ञान रहता है कि मानव की प्रकृत इच्छाऍं किस प्रकार सशोधित हो सकती है। इसको ध्यान में रखकर शिक्षार्थी को वह परोक्ष रूप से इस प्रकार निर्देशन देता है कि उसकी इच्छाएँ आपोआप परिष्कृत हो जाती है। पाठशाला में आने के पहले माता-पिता के सम्पर्क में बालक आदतें डाल लेता है। जब शिक्षक को इस संबंध में पूर्ण सूचना रहती है तब वह बालक के स्वभाव से परिचित होकर उसमें जो कुछ बुरी आदतें पड़ गयी हैं उन्हें सुधारने का प्रयत्न करता है। बाल्यावस्था में बालक बड़ा ढुलमुल होता है। जिधर चाहा उसे मोड़ दिया। जब उसकी आदत और भाव दृढ हो जाते है, संशोधन की संभावना नहीं रह जाती। पाठशाला में उपयुक्त सुविधाऍं मिलने पर व्यक्तिगत-शिक्षा-ग्रहण-क्षमता (*Personal Educational efficiency*) बढ़ती है। बालक व्यवहार-कुशल बनता है, उसमें आदान-प्रदान का भाव आता है और उसका बौद्धिक विकास होता है।

प्राचीन काल में शिक्षार्थी का कोई महत्व नहीं था। यह नहीं समझा जाता था कि शिक्षार्थी में अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ है। शिक्षावेत्ताओं का विश्वास था कि बालक का मस्तिष्क कोरी पटिया है

और उसपर शिक्षक अपनी चातुरी से कुछ भी लिख सकता है। बालक निष्क्रिय जड़ पदार्थ है। रूसो ने पहले पहल इस विचार के विरुद्ध क्रान्ति की और यह स्थापित किया कि बालक वास्तव में सक्रिय है। उसमें विशेषताएँ हैं और उपयुक्त उत्तेजन मिलने पर उनका विकास होता है। इसके बाद बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही कुछ परीक्षाएँ निकलीं जिनसे शिक्षार्थी के मनः शास्त्र को शिक्षक भली भाँति समझ सकता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं (*Tests*) से शिक्षार्थी की जन्मजात अभिरुचि (*Aptitude*), सीखने की योग्यता (*Ability*) और व्यक्तित्व विशेषताओं (*Personality Traits*) का पता लगता है। इनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है:—

शिक्षार्थी

१. बुद्धि-परीक्षा (*Intelligence Test*)

२. ज्ञान अर्जन-परीक्षा (*Achievement Learning Test*)

३. व्यक्तित्व-परीक्षा (*Personality Test*)

वैज्ञानिक परीक्षा (*scientific test*) पदार्थाश्रित (*objective*) प्रामाणिक (*standarized*) और विश्वसनीय (*reliable*) होती है। जो परीक्षाएँ संप्रेक्षण (*Observation*) के आधार पर निर्धारित की गयी हैं वे काल्पनिक नहीं होतीं—पदार्थाश्रित रहती हैं। जब कई बार प्रयोग किया जाता है और परिणाम एक ही मिलता है तब परीक्षा प्रामाणिक (.*standardized*) और विश्वसनीय (*reliable*) समझी जाती है। परीक्षा की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर है कि वह कितने व्यक्तियों पर और कितनी बार ली गयी है।

सब में किसी कार्य के लिये समान अभिरुचि (*Aptitude*) नहीं होती। परिमाण (*Qunatity*) और गुण (*Quality*) में भिन्नता रहती है। कुछ व्यक्तियों में संगीत सीखने की, कुछ में यांत्रिक (*Mechanical*

Aptitude), कुछ में सामाजिक (*Social Aptitude*), कुछ में लेखन (*Clerical Aptitude*) कुछ में कलात्मक (*Aesthetic Aptitude*), और कुछ में बौद्धिक (*Intellectual Aptitude*) जन्मजात अभिरुचि रहती है। जिस व्यक्ति में संगीत-अभिरुचि है उसे संगीत की, जिसमें यांत्रिक अभिरुचि है उसे कलपुरजों की और जिसमें बौद्धिक अभिरुचि है उसे सूक्ष्म स्तर पर विचार करने के विषय की शिक्षा देनी चाहिये। अभिरुचि का पता लगाने के लिये मनोविज्ञान में अनेक परीक्षाओं का अनुसंधान हुआ है। चित्र-निर्माण-परीक्षा (*Picture Construction Test*), कोह की ब्लौक डिज़ाइन परीक्षा (*Kohs Block Design Test*) मैनुअल स्टेडिनेसपरीक्षा (*Manual Steadiness Test*), पैटर्न ड्राइंग परीक्षा (*Pattern Drawing Test*), अलेग्जेन्डर पास एलौङ्ग परीक्षा (*Alexander Passalong Test*) इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि शिक्षा का संबंध विशेष रूप से बौद्धिक अभिरुचि (*Intellectual Aptitude*) से है, फिर भी इन परीक्षाओं का अपना मूल्य है। व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षा का एक भाग है। शिक्षा का उद्देश्य सामञ्जस्य (*Adjustment*) लाना है और यह तभी संभव है जब मनुष्य व्यवसाय की दृष्टि से समायोजित हो। व्यवसाय की दृष्टि से समायोजित होने के लिए जन्मजात अभिरुचि का पता लगाना आवश्यक है।

बुद्धि परीक्षा

बौद्धिक अभिरुचि का पता लगाने के लिये बुद्धि-परीक्षा (*Intelligence Test*) विशेष प्रकार से उपयोगी है। यह एक प्रकार का पदार्थाश्रित मापदंड (*Objective Scale*) है जिससें शिक्षार्थी की बुद्धि नापी जा सकती है। सामान्य दृष्टि से 'बुद्धि' की विशेषता सबमें नहीं होती; कुछ ही व्यक्तियों में रहती है। मूढ़ में बुद्धि का सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु मनोविज्ञान में 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। हर एक व्यक्ति में कुछ न कुछ बुद्धि अवश्य होती है। कोई भी व्यक्ति बिना

बुद्धि का नहीं है।* हाँ, एक में अधिक हो सकती है और दूसरे में कम। मात्रा का भेद होता है।

बुद्धि क्या है इस प्रश्न पर कई मत हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि का मापक 'क्रियात्मक कुशलता' (*Motor skill*) है। कार्य्य कुशलता के अनुपात में बुद्धि तीव्र या मंद समझी जाती है। दूसरे मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि का मापक 'प्रत्यक्षीकरण कुशलता' (*Perceptual excellence*) है। जिनकी इन्द्रियाँ संवेदनशील हैं—जिन्होंने अधिक वस्तुओं का निरीक्षण, स्पर्श या गंध किया है वे तीव्र बुद्धि के हैं। यही कारण है कि बुद्धि नापने के लिए पहले हल्की-भारी और रंग-विरंग की वस्तुएँ दी जाती थीं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि का मापक 'एकाग्रता शक्ति' है। जो अपने मन को एकाग्र कर सके, उसमें बुद्धि अधिक है। कुछ के अनुसार बुद्धि का अर्थ 'सीखने की समर्थता' है; कुछ के अनुसार यह विचार करने और समस्या सुलझाने की शक्ति है; तथा कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका संबंध संवेग-आचरण से है। इस प्रकार शिक्षा मनोविज्ञान में बुद्धि की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। यथार्थ में बुद्धि वातावरण से सामञ्जस्य (*adjustment*) स्थापित करने की स्वाभाविक मादा (*Inherent capacity*) है जिसमें वृद्धि नहीं की जा सकती। बर्ट के अनुसार भी बुद्धि पैदायशी मानसिक क्षमता (*inborn mental efficiency*) है जिसमें वृद्धि संभव नहीं। स्टर्न के अनुसार यह मनुष्य की सामान्य (*g*) और विशेष योग्यता (*s*) है जिससे वह जीवन की नवीन समस्यायों और परिस्थितियों का बोध करता है और अपने को उनके अनुकूल बनाता है। बिने के अनुसार बुद्धि में ज्ञान (*Comprehension*), आविष्करण (*invention*), निर्देशन (*direction*) एवं आलोचना

* "Intelligence is certain level of functional excellence."

(*Criticism*) की शक्ति निहित है। टर्मन के अनुसार बुद्धि का माप सूक्ष्मस्तर पर विचार करना है। वुडवर्थ के अनुसार यह दूरदर्शिता में है— नयी परिस्थिति में अपने को समायोजित कर लेना तथा पिछले अनुभव का उपयोग करना है। जो परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढ़ाल लेता है वही व्यक्ति बुद्धिमान है।

१९वीं शताब्दी के मध्य में एडवर्ड सेगुइन ने बालकों की बुद्धि परीक्षा के लिये एक नये प्रकार का फार्मबोर्ड बनवाया। यह लकड़ी का था और इसमें तीन कटान तीन आकार के चौखूटा, त्रिभुज और गोल बने थे। उन्हीं आकार के लकड़ी के टुकड़े थे। बालकों को यह आदेश दिया गया कि वे उन टुकड़ों को ठीक स्थान में बैठा दें। जिसने कम समय में उन टुकड़ों को ठीक स्थान में बैठा दिया वह बुद्धिमान माना गया; जिसने अधिक समय लगाया या भूल की वह मंद बुद्धि का समझा गया। इस परीक्षा का परिणाम सेगुइन ने १८४३ में प्रकाशित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में फ्राँन्स के मनोवैज्ञानिक बिने ने यह पहले पहल अनुभव किया कि उपयुक्त शिक्षा देने के लिये उन बालकों को अलग रखना आवश्यक है जिनमें बुद्धि कम है। यह मानसिक आयु (*Mental Age*) जानने पर ही हो सकता है पहला बिने-माप (*Binet-Scale*) १९०५ में पेरिस के पत्रिका एने साइकॉलजिक में प्रकाशित हुआ। इसमें ३० परिक्षाएँ

"Intelligence is not a thing or force which men have, but a certain level of functional excellence which they display when they are actually put into a wide variety of stimulus situations."—An introduction to Applied Psychology—C. R. Griffith. P. 389.

"Intelligence as the capacity of an individual to adopt his thinking according to the new change in the environment"—Stern.

थीं। प्रारम्भ की कुछ परीक्षाएँ आसान थीं और विशेष रूप से बच्चों की मानसिक आयु का पता लगाने के लिए उपयुक्त थीं। पहली में दृश्य-संबंध (*Visual Co-ordination*) मालूम करने के लिये उत्तेजन दिया गया और दूसरी में स्पर्श (*Tactual Stimulus*)। छठवीं परीक्षा में बच्चों से कुछ औसत वर्ग के साधारण कार्य करने को कहा गया। ग्यारहवीं परीक्षा में स्मृति-शक्ति की नाप की जाती। अठारहवीं परीक्षा में नकशे बनाने के लिए दिये जाते। बाकी परीक्षाएँ कठिन थीं। तीसवीं परीक्षा की प्रतिक्रिया वही व्यक्ति ठीक दे सकता जिसमें सूक्ष्म स्तर पर विचार करने की शक्ति होती। इन परीक्षाओं में जो केवल छः परीक्षाओं के प्रश्न का उत्तर देता वह जड़ (*Idiot*) माना जाता; जो पन्द्रह परीक्षाओं के प्रश्न का उत्तर देता वह मूढ़ (*Imbecile*); और पन्द्रहसे अधिक परीक्षाओं की सही सही प्रतिक्रिया देनेवाला व्यक्ति साधारण श्रेणी का समझा जाता। अन्वेषण करने पर मालूम पड़ा कि पहली सात परीक्षाओं के प्रश्नों का उत्तर सभी औसत दर्जे के तीन वर्ष के बालक दे सकते और बारह परीक्षाओं के प्रश्नों के उत्तर सात वर्ष तक के। १९०८ में बिने ने एक दूसरा माप प्रकाशित किया। इसमें अलग-अलग आयु के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नों की सूची रखी गयी। प्रश्न निर्धारित करने में कठिनाई पड़ी। बिने ने पहले कठिन प्रश्नों को चुना और इन्हें एक अवस्था विशेष के बालकों को जिनके लिये ये उपयुक्त हो सकते थे, परीक्षा के लिए दिया। बाद में प्रत्योत्तर का प्रतिशत निकाल कर यह निश्चित किया कि वह सूची (*Set of questions*) किस उम्र के बालक के लिये उययुक्त है। प्रश्न सब सामान्य विषय पर थे। प्रतिक्रिया के लिये किसी विषय-विशेष के ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी। औसत दर्जे की बुद्धि होने पर उस उम्र विशेष के सभी बालक आसानी से सब प्रश्नों का उत्तर दे सकते थे।

तीन वर्ष के बालक के लिये निम्नलिखित प्रश्न रखे गये :

१. नाक, कान, आँख तथा मुँह बतलाना।

२. वाक्य दुहराना—मैं भूखा हूँ, पानी बरसता है।

३. सँख्या दुहराना—एक बार सुननेपर कमसे कम दो अंक दुहराना।

४. चित्र में क्या है, यह बतलाना।

५. नाम बोलना।

छः वर्ष के बालक के लिये निम्नलिखित प्रश्न :

१. दाहिना और बाँया बतलाना।

२. वाक्य दुहराना—कम से कम सोलह अक्षर का वाक्य दुहरा सके।

३. किसी चित्र को दिखलाकर यह पूछना कि उसमें कौन सी वस्तु अधिक सुंदर है।

४. नित्य के प्रयोग की वस्तुओं के बारे में वर्णन करने को कहना।

५. तीन कार्य एक साथ करने का आदेश देना—चाभी कुर्सी पर रख देना और दरवाजा बंद करके दरवाजे के बगल में रखा हुआ बक्स लेकर चले आओ।

६. समय बतलाना।

यह सूची थियोडर सिमन के साथ बनाई गई थी। यही कारण है कि यह माप 'बिने सिमन स्केल' के नाम से प्रसिद्ध है। परीक्षा व्यक्तिगत (*Individual Test*) है : एक एक बालक पर बारी बारी से प्रयोग की जाती है। समूह में प्रयोग नहीं की जा सकती। साथ ही, यह परीक्षा मौखिक है। परीक्षक प्रत्योत्तर का रेकार्ड कर लेता है। तीन वर्ष का बालक जब अपनी आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों का उत्तर दे देता है तब उसकी मानसिक आयु तीन वर्ष की मानी जाती है; जब नहीं दे पाता तब उसकी मानसिक आयु कम समझी जाती है। जब वह इन प्रश्नों के अतिरिक्त पाँच वर्ष के बालक के लिये निर्धारित छः प्रश्नों में से दो और प्रश्नों का उत्तर दे पाता है तब उसकी मानसिक आयु तीन वर्ष आठ मास मानी

जाती है। इस प्रकार बिने ने बालकों के मानसिक आयु का पता लगाने का उपक्रम किया।

यद्यपि बुद्धि-परीक्षा के संबंध में 'बिने सिमन स्केल' का बहुत महत्त्व है तो भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस पर आक्षेप किया :

१. बिने-सिमन स्केल से प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि-माप नहीं ली जा सकती; यह केवल बालकों की बुद्धि मापने के लिये उपयोगी है।

२. इसका प्रयोग समूह पर नहीं किया जा सकता : यह व्यक्तिगत परीक्षा (*Individual Test*) है। जब बड़ी संख्या में बालकों की परीक्षा लेनी हो, एक-एक बालक की अलग-अलग परीक्षा लेने से समूह में परीक्षा लेना अधिक सरल होता है। सामूहिक परीक्षा (*Group test*) लेने में समय कम लगता है और व्यय भी कम पड़ता है। सामूहिक परीक्षा लाभप्रद ही नहीं अनिवार्य्य है। स्कॉटलैंड में जब ६०,००० बच्चों की परीक्षा का प्रश्न उठा तब बिने-परीक्षा अव्यावहारिक सिद्ध हुई और सामूहिक परीक्षा निकली जो सैनिकों की परीक्षा लेने में भी सफल रही। सैनिक परीक्षा दो प्रकार की थी : आरमी अलफा और आरमी बीटा। आरमी अलफा परीक्षा उन सैनिकों के लिये थी जो पढ़ना लिखना जानते थे; आरमी बीटा परीक्षा उनके लिये जो पढ़ना नहीं जानते थे। एक प्रकारसे आरमी अलफा परीक्षा का अनुवाद आरमी बीटा परीक्षा में चित्र या चिह्न रूप में हुआ है।

३. बिने-सिमन स्केल वैज्ञानिक नहीं। १९११ में बिने ने स्वयं इसमें संशोधन किया और फिर तो बराबर संशोधन जारी रहा : डा. गौडार्ड का वाइनलैन्ड संशोधन (१९११), यर्क का पॉइन्ट स्केल (१९१५), टर्मन का स्टैन्डफोर्ड संशोधन (१९१६) और सी. बर्ट का लंडन रिवीज़न (१९२१) मुख्य थे।

इनमें टर्मन का संशोधन विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने बिने-सिमन स्केल को एक नया रूप दिया। टर्मन कैलिफोर्निया विश्व-विद्यालय में मनोविज्ञान के अध्यापक थे। संभव है टर्मन ने अपने देश

की परिस्थिति के कारण यह संशोधन किया हो। जो बातें बिनेको फ्राँस के बालको की दृष्टि से 'बुद्धि-माप' के लिये उपयुक्त मालुम पड़ी, टर्मन को अमेरिका के बालकों के लिये उपयुक्त न लगी हो। टर्मन ने २३०० बालकों पर प्रयोग किया। इनमें २०० बालकों की बुद्धि कम थी, ४०० की प्रौढ़ और १७०० की साधारण। टर्मन को १००० अमेरिकन बालको मे करीब ९०५ की मानसिक आयु ६ से १४ वर्ष के बीच की मिली। इस माप मे ९० परीक्षाएँ है, और परीक्षा के लिये ५ प्रश्नों के स्थान पर छः प्रश्न रखे गये है। टर्मन की परीक्षा 'स्टैन्डफोर्ड रिवीज़न' के नाम से प्रसिद्ध है।

टर्मन ने स्टर्न के इस सिद्धान्त को अपनाया कि 'बुद्धि वास्तविक और मानसिक आयु का भागफल है'।* मानसिक आयु किसी आयु विशेष (*Chronological age*) की पैदायशी ज्ञानात्मक शक्ति है जिसमें शिक्षा द्वारा वृद्धि नहीं की जा सकती। इसका अर्थ बौद्धिक विकास (*Intellectual development*) नहीं जो शिक्षा से प्राप्त होता है। जिसकी बुद्धि तीव्र है उसकी बुद्धि-मात्रा (*I. Q.*) अधिक होती है; जिसकी बुद्धि मंद रहती है उसकी बुद्धि-मात्रा कम होती है। बुद्धि-मात्रा (*I. Q*) जानने के लिये मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग करके १०० से गुणा करना है :

$$\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १०० = \text{बुद्धि-मात्रा}।$$

जब बुद्धि-मात्रा (*I. Q*) १०० से अधिक होती है तब बालक प्रखर बुद्धि(*Supernormal*) का समझा जाता है: जब यह १०० से कम होती है तब मंदबुद्धि (*Subnormal*) का; और जब यह १०० के इर्द गिर्द है तब

1 Stern's mathematical description of intelligence as the quotient between mental and chronological age.

साधारण बुद्धि (*Normal*) का। कम बुद्धि में कई श्रेणी हैं : १५-३० तक के व्यक्ति जड़ (*Idiots*), ४०-७० तक के निर्बल (*feeble minded*) और ७०-९० तक के मन्द बुद्धि (*border line, moron*) होते हैं। मंद बुद्धि का व्यक्ति (*morons*) अपने व्यक्तित्व और वातावरण में सामन्जस्य (*adjustment*) स्थापित कर लेता है। मूर्ख में यह भी समझ नहीं रहती कि भोजन स्वास्थ्य वर्धक होता है और शरीर के लिये आवश्यक है। किसी ने खिला दिया तो भोजन कर लिया।

टर्मन ने 'मानसिक-भागफल' (*mental quotient*) के स्थान पर 'बुद्धि-भागफल' या बुद्धि-मात्रा (*Intelligent quoiient*) शब्द का प्रयोग किया है।

जब बिने ने शिक्षा-क्षेत्र में बुद्धि-माप का परिचय दिया, शिक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो गयी। यह ठीक है कि बुद्धि में वृद्धि नहीं की जा सकती; परन्तु उपयुक्त शिक्षा-विधि तथा वातावरणसे जो कुछ बुद्धि विद्यमान है उसका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। उपयोग से विकास होता है और उपयोग न करने से संभव है बुद्धि कुंठित हो जाय। यही बात प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने वृत्ति के संबंध में कहा है कि उपयोग से वृत्ति का विकास होता है और उपयोग न होनेसे वृत्ति निस्प्रभ पड़ जाती है। संभव है अधिक समय बीतने पर विलीन हो जाय। जेम्स का यह वृत्ति-सिद्धान्त (*Theory of Instinct*) प्रसिद्ध है।

बुद्धि-माप की उपयोगिता

मानसिक आयु का पता लगाने के लिए बुद्धि-माप आवश्यक है।

१. बुद्धि-माप से वैयक्तिक भेद (*Individual Difference*) का पता लगता है। मनुष्य एक दूसरे से केवल आकृति व डील-डौल में भिन्न नहीं, मानसिक विशेषता (*mental trait*) की दृष्टि से भी भिन्न हैं।

२. बुद्धि-माप से केवल बालकों के ही मानसिक आयु का पता नहीं लगता, प्रौढ़ व्यक्तियों के भी मानसिक आयु का पता लगता है। प्रौढ़

व्यक्ति बालक से आयु में बड़ा है, संभव है कि मानसिक आयु की दृष्टि से वह बालक के बराबर हो।

३. बुद्धि-माप से यह निर्धारित किया जा सकता है कि एक व्यक्ति विशेष किस प्रकार के कार्य के योग्य है। सब व्यवसाय के लिये समान बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। बौद्धिक शिक्षा (*Intellectual Training*) के लिए प्रखर बुद्धि आवश्यक है। जिस बालक की बुद्धि-मात्रा १०० से अधिक या १०० है वह बौद्धिक शिक्षा के योग्य है। जिसकी ७०-९० या इससे भी कम है वह इसके लिए अयोग्य है। दस्तकारी का कार्य सफलता से कर सकता है। जब २०-४० बुद्धि-मात्रा है तब बालक केवल यंत्रवत् हाथ से कार्य (*Manual labour*) कर सकता है। बुद्धि के अनुकूल विषय की शिक्षा देने पर अधिक लाभ होता है।

४. बुद्धि-माप से शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों को ही लाभ होता है। बौद्धिक स्तर (*Intellectual level*) का ज्ञान होने से शिक्षक इस प्रकार की व्यवस्था करता है कि कक्षा में प्रखर, साधारण तथा मंद बुद्धि के शिक्षार्थी समान रूप से लाभ उठा सकें। जब शिक्षक इससे अनभिज्ञ रहकर व्यवस्था करता है तब शिक्षार्थीको हानि होती है। यदि शिक्षा प्रखर बुद्धि के बालकों के अनुकूल दी गयी तो औसत बुद्धि का शिक्षार्थी विषय नहीं समझ पावेगा। उसमें हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जायगी। संवेदनशील होनेपर वह मानसिक दुर्बलता का शिकार होगा; बेहया स्वभाव का होने पर सड़कों में खेलेगा, चोरी करेगा और जेब काटेगा। यदि शिक्षा का विषय मंद बुद्धि के बालक के अनुकूल रखा गया तो प्रखर बुद्धि के शिक्षार्थी की जुगुप्सा जागृत नहीं हो सकेगी, अध्ययन में उसकी रुचि न रहेगी और मानसिक ह्रास होगा। अभी तक शिक्षक के पास बुद्धि नापने का कोई ऐसा साधन नहीं था जिससे वह बालकों का वर्गीकरण कर पाता। बालक उम्र में बड़ा होने पर भी संभव है मानसिक आयु में कम हो।

इस प्रकार बुद्धि-माप के आधार पर उपयुक्त शिक्षा के लिए शिक्षार्थियों का वर्गीकरण होना आवश्यक है।

ज्ञानार्जन-क्षमता परीक्षा (*Achievement Learning Test*) से यह पता लगता है कि किसी व्यक्ति विशेष ने सीखने की योग्यता कहाँ तक प्राप्त किया है। यह जानने पर आगे उसे अधिक कुशलता से शिक्षा दी जा सकेगी। अभिरुचि (*Aptitude*) और योग्यता (*Ability*) में भिन्नता है। अभिरुचि किसी कार्य विशेष को, बौद्धिक हो या यांत्रिक, करने की जन्मागत कार्य-क्षमता है; योग्यता अर्जित है। किसी कार्य को करने और समझने की शिक्षा मिलने पर हममें योग्यता उत्पन्न हो जाती है। यह बहुत कुछ जन्मागत अभिरुचि (*Aptitude*) पर निर्भर करता है। जब अभिरुचि के अनुकूल शिक्षा दी जाती है तब कार्य करने की योग्यता अधिक बढ़ती है। अन्यथा हम विशेष लाभ नहीं उठा पाते।

शिक्षा का संबंध व्यक्तित्व-परीक्षा (*Personality Tests*) से भी है। यहाँ व्यक्तित्व शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। इसमें पैतृक विशेषता (*Hereditary trait*), सामाजिक-आर्थिक अवस्था (*Socio-economic factor*), रुचि या भाव-स्वभाव (*feeling-attitude*) और अभ्यास सब निहित हैं। सफलता से शिक्षा देने के लिए शिक्षार्थी की संवेगात्मक अवस्था का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इसका पता व्यक्तित्व-परीक्षा से लगता है। जब शिक्षार्थीकी संवेगात्मक अवस्था साधारण रहती है, वह शिक्षा से लाभ उठाता है। आभ्यन्तरिक क्षेत्र की इच्छाओं में परस्पर संघर्ष होने पर रुकावट होती है। संघर्ष मानसिक विकार का मूल कारण है और मानसिक विकार होने पर मनुष्य का मन अध्ययन में नहीं लगता। संवेग तीव्र और जटिल होने से शिक्षा ग्रहण करने में कहां तक रुकावट होती है इस पर मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रयोग किये हैं। कारटस ने छठवीं और सातवीं श्रेणीके बालकों की प्रतिक्रिया का अध्ययन किया। विवरण देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा की सफलता संवेग पर बहुत कुछ निर्भर है।

संवेगात्मक अवस्था का पता लगाने के लिये वुडवर्थ ने प्रथम महायुद्ध के समय ११६ प्रश्नों की सूची बनाया। प्रतिक्रिया के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि किस व्यक्ति के जीवन में सामञ्जस्य है और कौन मनोदौर्बल्य से त्रस्त है। उनमें से कुछ प्रश्न निम्नलिखित भांति हैं :

२. क्या तुम्हें रात में अच्छी तरह नींद आती है?......हाँ......नहीं

१६. क्या तुम्हें कभी चक्कर आता रहा?......

२३. क्या तुम्हें प्रायः सिर में तेज़ दर्द होती है?......

४३. क्या तुम आसानी से मित्र बना लेते हो?......

६१. क्या तुम यह सोचकर परेशान हुआ करते हो कि रास्ते में लोग तुम्हारे ताक में रहते हैं?......

६६. क्या तुम्हें छोटे कमरे में दरवाजा बन्द कर बैठने में परेशानी होती है?........

८४. क्या तुम्हें चोरी करने की कभी विशेष इच्छा हुई?......

१००. क्या तुम्हें कभी आत्महत्या करने की तीव्र इच्छा हुई है?......

११४. क्या तुम खून देख सकते हो?......

प्रेसी की एक्स-ओ या क्रौसआउट परीक्षा भी रोचक है। इसमें शब्दों की कई सूची दी गई हैं। प्रयोग-पात्र से कहा जाता है कि वह उन शब्दों को काट दे जो उसके मन में किसी प्रकार की चिता उत्पन्न करते हों या अप्रिय लगते हों। शब्दों को सावधानी से काटने का आदेश रहता है :

१. भिक्षा, धूम्रपान, खुशामद, थूकना, व्यंगपूर्ण हास्य

२. भय, क्रोध ,शंका, आलस्य, घृणा

३. उबना, दुर्बलता, अज्ञान, दैन्य, लोभ

४. तिलका तावड़ करना, लापरवाही, मूर्खता, दोष निकालना, गप्पी

इनके अतिरिक्त संवेगात्मक अवस्था का परिचय शब्द-संधान-विधि (*Word Association Test*) से भी मिलता है। इसमें शब्दों की सूची रहती है और जो कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनके आधार पर उस व्यक्ति-

विशेष की संवेगात्मक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। कुछ आरोपण परीक्षाएँ (*Projective Tests*) भी हैं। इनमें चित्र कथानक परीक्षा (*Thematic Apperception Test*) और मसी अंक परीक्षा (*Ink Blot Tests*) प्रमुख हैं। इन परीक्षाओं पर 'मनोविज्ञान और उपचार' के परिच्छेद में विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

अब प्रश्न यह है कि संवेग को किस प्रकार परिमार्जित और सुसंस्कृत किया जावे जिससे व्यक्तित्व में सामञ्जस्य बना रहे और शिक्षा का उपयोग अधिक से अधिक हो सके। इसके लिये 'मनोविश्लेषण' द्वारा निर्धारित परिमार्जन-उन्नयन (*Sublimation*) की प्रणाली सबसे उपयुक्त है। वृत्ति-संवेग (*Instinct-Emotion*) के परिमार्जन से तात्पर्य्य है इन्हें नीची सतह—प्रकृत अवस्था—से ऊँचे उठाना, अथवा सुसंस्कृत करना। काम-वृत्ति (*Sex-Instinct*) के परिमार्जित होने पर इस वृत्ति से संबंधित प्रेम का संवेग उत्कृष्ट रूप ले लेता है। मानव दूसरे वर्ग की ओर आकृष्ट होने के स्थान पर ईश्वर-भक्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। विश्व-प्रेम की उद्भूति के कारण समाज-सुधारक बनता है; और कभी कला का पुजारी। आत्म-प्राधान्य-वृत्ति (*Self-Assertion*) का परि-मार्जन होने से मानव अपना गौरव अपने देश के गौरव में समझने लगता है। मानसिक शक्ति का व्यय अपने को दिखलाने में नहीं करता। स्वार्थी और ढोंगी नहीं रह जाता। यह बात केवल 'काम' (*Sex*) और 'आत्म-प्राधान्य' (*Self-Assertion*) की वृत्तियों में ही नहीं, सभी वृत्तियों के संबंध में घटती है। वृत्ति और संवेग में घनिष्ठ संबंध है [1]। 'जहां वृत्ति क्रियमाण है, वहाँ संवेग होता ही है। दूसरे शब्दों में मानव में उद्वेग (*emotional disturbance*) तब तक संभव नहीं जब तक वृत्ति जाग्रत नहीं होती। वृत्तियाँ जीवन की संचालक हैं; संवेग उठता है और वृत्ति के अनुरूप तीव्र या मंद, प्रकृत या सुसंस्कृत रहता है। मानव का

1 They are like the two sides of a coin.

आचरण संवेग का संगठन-सम्मिश्रण (*organization*) है और शिक्षा का ध्येय आचारण का उचित विकास करना है, नीति की बातें बतलाना है और मनुष्य में सामाजिक भाव का विकास करना है। जिस व्यक्ति का वृत्ति-संवेग प्रकृत रूप में है वह वास्तविक अर्थ मे शिक्षित नहीं।

संक्षेप मे बुद्धि परीक्षा (*Intelligence Test*), ज्ञानार्जन-क्षमता-परीक्षा (*Achievement Learning Test*) और व्यक्तित्व-परीक्षा (*Personality Tests*) शिक्षार्थीयों के मन की ज्ञानात्मक (*cognitive*), क्रियात्मक (*conative*) और सवेगात्मक (*emotive*) अवस्थाओं का बोध कराती है। पाश्चात्य देशों में बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले उनके मन की स्थिति, अभिरुचि, तथा विशेषता का अध्ययन सब दृष्टिकोण से कर लिया जाता है। शिक्षक अधिकतर बालक की मानसिक स्थिति से भलीभाँति परिचित होने पर शिक्षा देना प्रारम्भ करता है। रूसो का कथन सत्य है कि बालक तो एक पुस्तक है जिसे शिक्षक को आद्यान्त पढ़ना है और उसके मनोभाव को पूर्ण रूप से समझना है।

प्रश्न यह भी उठता है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से बालक को शिक्षा देना कब प्रारम्भ करना उत्कृष्ट होगा। मौरफेट और वाश्बर्न ने इस प्रश्न पर मनन किया और प्रयोग करने के बाद निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक बालक का मानसिक विकास पूर्ण रूप से न हो जाय तब तक शिक्षा प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। विकास होने के पहले शिक्षा प्रारम्भ करने से बालक कोई लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि तब मांसपेशियाँ सबंधित (*Muscles Co-ordination*) नहीं रहती, प्रत्यक्षीकरण शक्ति की तीव्रता (*Perceptual acuity*) कम रहती है, और धारण शक्ति (*Power of Retention*) निर्बल रहती है। शिक्षा के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है, अध्ययन में रुचि नहीं रह जाती और पाठ्य पुस्तक के प्रति ही नहीं सामान्य रूप से शिक्षा के प्रति उसमें अवज्ञा

शिक्षा कब प्रारम्भ होवे ?

का भाव हो जाता है। संवेगात्मक दृष्टि से बालक का मन अस्थिर हो जाता है और मानसिक दुर्बलता (*nervousness*) आती है। उसके मन में पुस्तक के प्रति भय का भाव हो उठता है और हर घड़ी यह विचार होता है छुट्टी मिले और चलकर साथियों से खेलें। संवेग की दृष्टि से अस्थिर होने पर मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षावेत्ताओं को बालक के लिये इस प्रकार की पृष्ठभूमि कायम करना है जिससे वह जो विषय-वस्तु का अध्ययन और निरीक्षण करे उससे आत्मीयता का भाव अनुभव करे और स्थिर समायोजित संवेग की उत्पत्ति होवे। विकास के पहले शिक्षा देने से बालक गलत आदत डाल लेता है। एक दफ़ा जो आदत पड़ जाती है, नहीं बदलती। सुधारने का प्रयास विफल जाता है। विशेषकर बाल्यावस्था में जो आदत पड़ जाती है उसका बदलना कठिन होता है। धीरे धीरे वह स्वभाव बन जाता है।

शिक्षा प्रारम्भ करते समय बालक की मानसिक आयु (*Mental age*) कम से कम सात वर्ष रहे। सात वर्ष की मानसिक आयु में शिक्षा प्रारम्भ करने से उन्नति की अधिक संभावना रहती है। इसके अनुसार शिक्षा देने से सत्तर प्रतिशत या इससे भी अधिक बालक उन्नति कर पाते हैं। छः वर्ष की मानसिक आयु में ही शिक्षा देना प्रारम्भ करने से दस प्रतिशत से भी कम उन्नति की संभावना रहती है। शिक्षा में मानसिक आयु का महत्त्व है। मानसिक आयु और वास्तविक आयु (*chronological age*) प्रायः समान नहीं होतीं। संभव है कि वास्तविक आयु अधिक हो और मानसिक कम, या मानसिक अधिक और वास्तविक कम। यह व्यक्तिगत विशेषता (*individual trait*) पर निर्भर करता है। सांख्यिक विवरण से पता लगा है कि प्रायः वास्तविक आयु से मानसिक आयु कम रहती है।

इस तरह ज्ञानात्मक (*cognitive*), संवेगात्मक (*emotive*) और क्रियात्मक (*conative*) सभी दृष्टि से शिक्षा जल्दी देना (*premature learning*) हानिकारक है। बालक का मानसिक विकास (*Maturation*)

होने पर ही शिक्षा प्रारम्भ की जाय इसपर शिक्षक को पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से कुछ ऐसी सामान्य दैनिक बातें है जिनका संस्थाओ की व्यवस्था के लिए उल्लेख करना आवश्यक है : डेस्क की ऊँचान-चौड़ान बालक के स्वास्थ्य को ध्यान मे रखकर रखी जावे; विद्यार्थी को सीधा बैठने का आदेश दिया जावे; कमरा ऐसा हो जहाँ सूर्य की रोशनी आवे, इससे आँख पर बल नही पड़ता और कीटाणु नष्ट हो जाते है; शुद्ध हवा आने के लिए कमरे मे खिड़की दरवाजे हो, स्थान शांत होवे, नही तो शिक्षार्थी का ध्यान स्थिर न हो सकेगा; शिक्षक समय का ध्यान रखे, समय का चिट्ठा (*Time budget*) ठीक ठीक बनावे जिससे बालक समय का मूल्य समझे; जो काम करना है उसकी योजना पहले से ही बनावे (*Planning ahead*), समय की बचत होगी और शक्ति व्यर्थ न जायेगी; शिक्षक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या सरल भाषा मे कर दे, अन्यथा बालक का ध्यान विषय पर एकाग्र न हो सकेगा; विषय से सबधित वस्तुओ का साक्षात् कराकर (*Training with survey*) ज्ञान करावे; और अध्ययन की गति बढ़ावे। इससे मस्तिष्क क्रियमाण हो जायगा।

संक्षेप मे शिक्षा की मुख्य समस्याएँ सीखना-विधि (*Methods of Learning*), इच्छानुगत भाव (*Motivation*), अर्जित ज्ञान का परत्र उपयोग (*Transfer of Learning*), बुद्धि (*Intelligence*) और शिक्षक की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि हैं। इन समस्याओं को ध्यान मे रखकर शिक्षा की व्यवस्था करने से शिक्षा का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। शिक्षा वास्तव मे मानव के उत्थान का सोपान है। इसका व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्य है।

मनोविज्ञान और उपचार

उपचार-क्षेत्र में मनोविज्ञान की महत्ता जाननेके लिये मन और शरीरके संबंध पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालना आवश्यक है। यह प्राचीन समयसे भारतीय दर्शन के विचार का विषय रहा है। पश्चिमी दर्शन में भी मन और शरीर के परस्पर सम्बन्ध पर विवाद चलता रहा। दार्शनिक डेकार्ट ने मन और शरीर को दो पदार्थ माना। मन सूक्ष्म है : इसकी विशेषता विचार (*Thought*) करना है; शरीर स्थूल है : इसकी विशेषता प्रसरण (*extension*) और गति (*motion*) है। प्रश्न यह उठा कि यदि ये दो पदार्थ स्वभाव में एक दूसरे के विपरीत हैं तो इनमें परस्पर संबंध किस प्रकार हो सकता है। 'कारटीज़न डुऐलिज़्म' की इस समस्या (*Cartisan Dualism*) को हल करने के लिये स्पिनोज़ा ने दूसरा विवरण दिया। उन्होंने मन और शरीर को 'वास्तविक द्रव्य' (*Real Substance*) की दो विशेषताएँ (*Attributes*) मानीं। परन्तु एक ही द्रव्य में दो विरोधी विशेषताएँ किस प्रकार समन्वित हो सकती हैं? इसको सुलझाने के लिये लाइब्निज़ ने मन और शरीर को दो पृथक् 'वास्तविक द्रव्य' (*Real Substance*) माना जिनमे प्रकार का नहीं, मात्रा का भेद सिद्ध किया। मन ऊँचे स्तर (*high grade*) पर है और शरीर नीचे स्तर (*low grade*) पर। फिर भी समस्या बनी रही कि एक की प्रतिक्रिया दूसरे पर क्यों पड़ती है जब कि मन और शरीर दोनों अपने में पूर्ण हैं और अपना अस्तित्व अपने में रखते हैं। यह सब तो दर्शन के विवाद का विषय है। एक समस्या को एक दृष्टि से सुलझाने पर दूसरे रूप में खड़ी हो जाती है।

---

*'Every monad conceives in itself and exists initself.'

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में मन और शरीर के सबंध के विषय पर जो सिद्धान्त हैं उनपर यहां विचार करना है। समानान्तर सिद्धान्त (*Theory of Parallelism of Mind & Body*) के अनुसार मन और शरीर दो पृथक् सत्ताएँ (*entities*) हैं और इनकी विशेषताएँ भी पृथक् हैं। इनमें परस्पर संबंध समानान्तर रेखा का सा है। जिस प्रकार दो समानान्तर रेखाएँ आपस में मिल नहीं पातीं, उसी प्रकार मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ साथ साथ चलती हैं पर उनमें किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं होता। एक की क्रिया का कारण दूसरा नहीं होता, न एक का प्रभाव ही दूसरे पर पड़ता है। लड़ाई-झगड़ा करने पर एक ओर क्रोध का संवेग उठता है और दूसरी ओर चेहरे का तमतमाना, हाँथ पैर पटकना, कटु शब्द बोलना इत्यादि होता है। क्रोध-संवेग का कारण चेहरे का तमतमाना नहीं है; चेहरे के तमतमाने का कारण क्रोध-संवेग नहीं। मन द्वारा संचालित क्रियाएँ स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करती हैं; शरीर से संचलित क्रियाएँ अपना। मन और शरीर के इस सिद्धान्त पर आक्षेप हुआ। 'देहार्थ मानसिक उपचार विज्ञान' (*Psycho-Somatic medicine*) का सिद्धान्त तो इसके बिल्कुल विपरीत है। यह संभव नहीं है कि मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में किसी प्रकार का संबंध न हो। वास्तव में तो शारीरिक क्रियाएँ प्रायः मनोभाव से संचालित होती हैं। क्रोध के संवेग की उत्पत्ति होने पर मुख लाल हो उठता है; उदास मन होनेपर मनुष्य अक्रियमाण हो जाता है और शरीर का सब अंग और माँसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं; प्रसन्न होने पर शरीर का बल बढ़ जाता है। इसी प्रकार शारीरिक अवस्था का प्रभाव मानसिक क्रिया पर भी पड़ता है। मस्तिष्क पर आघात होने से मनुष्य बेहोश हो जाता है, स्वास्थ्य खराब होने पर मानसिक क्रियाएँ निस्तेज और शून्य पड़ जाती हैं।

समानान्तर सिद्धान्त

शरीर और मन की क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त (*Interaction Theory of Mind & Body*) में मन और शरीर दो सत्ताएँ मानी गयी हैं किन्तु एक की क्रिया का दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। मन की क्रिया का शरीर पर और शरीर की क्रिया का मन पर सदैव प्रभाव पड़ता रहता है। क्रोध आते ही रक्त तेजी से दौड़ने लगता है और मुँह लाल हो जाता है; भय का संवेग उत्पन्न होते ही हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, हाथ पैर काँपने लग जाते हैं और पाचन शक्ति क्षीण पड़ जाती है; चिंता में सिर भारी हो जाता है। इसी प्रकार शरीर दुर्बल होने से मन निरुत्साह हो जाता है। पौफ़ेनबर्गर के शब्दों में "मानसिक अवस्था का शरीर पर प्रभाव पड़ता है और शारीरिक परिवर्तन का मन पर"।* परन्तु दर्शन शास्त्र की 'कारटीज़न डुऐलिज़्म' की समस्या यहाँ भी उठी और इस सिद्धान्त पर आक्षेप हुआ। दो पृथक् स्वभाव और गुणके पदार्थ में परस्पर संबंध कैसे हो सकता है ?

क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त

प्रयोजनवाद (*Hormic School*) के प्रवर्तक मैकडूगल ने भी इस सिद्धांत का खंडन किया है। इसका प्रसंग उनके प्रसिद्ध पुस्तक 'बॉडी एन्ड माइन्ड' में मिलता है। मैकडूगल का कथन है कि जब मनुष्य शारीरिक क्रिया करता है उसकी शारीरिक शक्ति (*Physical energy*) क्षीण होती है और वह थक कर चारपाई पर पड़ जाता है; जब वह मानसिक क्रिया करता है, उसका मन शिथिल पड़ जाता है, आराम ढूँढ़ता है और ध्यान एकाग्र नहीं कर पाता। ऐसा नहीं कि शारीरिक कार्य करने पर मानसिक और मानसिक कार्य करने पर शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है।

संभव है कि मन की क्रिया करने से शरीर में और शरीर की क्रिया

* "Mental states affect the body and that bodily changes affect the mind."—Poffenbersger: Principles of Psychology. P. 558

करने से मन में थकान न आये, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मन और शरीर के क्रियाओं मे किसी प्रकार का संबंध नहीं है। मन सोचता है तभी हाथ से कलम चलती है, सोचते-सोचते मन थकता है मानसिक शक्तिका तीव्र गति से ह्रास होता है और साथ ही कलम रुक जाती है।

'व्यवहारवाद सिद्धान्त' के प्रवर्तक जॉन वाटसन ने मन का स्वतंत्र अस्तित्व जिससे मानसिक क्रियाएँ संचालित होती हों नहीं माना। जो

व्यवहारवाद

क्रियाएँ साधारण रूप से मन द्वारा संचालित समझी जाती हैं वे केवल 'अभ्यस्त सहजक्रिया' (*Conditioned Reflex*) हैं। 'सीखना' अभ्यस्त सहजक्रिया है। किसी घटना को स्मरण रखना मन का कार्य नही। किसी वस्तु का अनुभव होने पर संवेदन-तंतु (*Afferent nerve*) और क्रिया-तंतु (*Efferent nerve*) के कारण मस्तिष्क और मांसपेशि के बीच रास्ता बन जाता है। यह अनुभव जब बार बार होता है इसकी लकीर और भी तेज हो जाती है और समयानुकूल मनुष्य उस घटना या विषय का स्मरण करता है। यही बात अभ्यास (*Habit*) में होती है।

*** यह धारणा पावलॉव द्वारा प्रतिपादित की गयी है। उन्होंने कुत्ते पर प्रयोग किया। प्रतिदिन कुत्ते को भोजन देने से आध घंटे पहले वह घंटी बजा देता। भोजन देखकर सलावा का बहना एक सहजक्रिया (Reflex action) है। पहले भोजन को पाने पर ही सलावा बहता। पर कुछ दिन के पश्चात् घंटी का बजना और भोजन प्राप्ति की घटना इस प्रकार संबंधित हो गयीं कि घंटी बजने के ठीक आध घंटे बाद भोजन न मिलने पर भी कुत्ते के मुँह से सलावा बहने लगता। इससे पावलॉव ने यह निष्कर्ष निकाला कि पशुओं की तरह मानव की भी समस्त क्रिया-व्यापार एक प्रकार की अभ्यस्त सहजक्रिया हैं और इसके आधार पर मनुष्य की सब मानसिक और शारीरिक क्रिया का विवरण दिया जा सकता है।**

सब क्रिया-व्यापार जिन्हें मन से संबंधित समझा जाता है उत्तेजन-प्रतिक्रिया (*Stimulus-Response*) मात्र हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में शारीरिक और मानसिक क्रिया के संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता।

चेतनावाद सिद्धान्त

चेतनावाद (*School of Consciousness*) के अनुसार मन चेतन है। चेतना इसका स्वभाव तथा विशेषता है। यह मष्तिष्क का विकार नहीं। मानव का व्यवहार उसकी चेतना के स्वभाव पर निर्भर है। जैसी चेतना होगी वैसा व्यवहार होगा। कोई भी क्रिया-व्यापार चेतन मन से परे नहीं होता। चेतन मन की क्रिया के रुकते ही शरीर की सब क्रिया निष्प्रभ हो जाती हैं। इस सिद्धान्त में शरीर-क्रिया का कोई महत्व नहीं। बाग में घूमने की इच्छा होने से ही प्रातःकाल बाग की तरफ पैर उठ जाता है।

चेतनावादी पूर्ण रूप से व्यवहारवादी (*Behaviorism*) के विरोधी हैं। एक चेतना पर बल देता है और दूसरा व्यवहार पर। किन्तु चेतनावादी शरीर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह भी मानते हैं कि शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में घनिष्ट संबंध है; यह संबंध कैसा है और किस स्थान पर होता है, इस विषय पर उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है।

प्रश्न यह है कि चेतना कहाँ रहती है? कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि चेतना (*Consciousness*) मस्तिष्क में सीमित रहती है, कुछ के अनुसार इसका प्रसरण सारे शरीर में है, और कुछ के अनुसार शरीर से पृथक् यह एक विलक्षण शक्ति है। मैकडूगल के अनुसार चेतना शरीर से पृथक् एक विलक्षण शक्ति है। स्टाउट ने मन और शरीर में एकता है इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है।

चेतनावादी धारा पर आक्षेप हुआ क्योंकि इसमें मन की धारणा को संकुचित अर्थ में लिया गया है। चेतन या ज्ञात मन सम्पूर्ण मन की धारणा को नहीं ढक सकता। ज्ञात मन के अतिरिक्त हममें अज्ञात मन भी

है जिसका ज्ञान हुये बिना हमारे क्रिया-व्यापार तथा व्यक्तित्व को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। 'आधुनिक मनोविज्ञान' में अज्ञात मन पर बहुत खोज हुई है।

इस प्रकार मन और शरीर के संबंध पर कई सिद्धान्त है। मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक डॉ० सिगमन्ड फ्रायड का कथन है कि मानव की सभी इच्छित (*Voluntary*) और अनिच्छित (*Involuntary*) क्रियाएँ मन की भावना के प्रतिबिम्ब है। मन में भावना-ग्रन्थि पड़ने पर किसी व्यक्ति विशेष के रक्त-प्रवाह और स्वास-निस्वास में भी परिवर्तन हो जाता है। संभव है कि मानसिक संघर्ष, विकार तथा भावना-ग्रन्थियाँ शारीरिक रोग का रूप ले लें।

इस बात से मनोवेत्ताओं का ध्यान शारीरिक रोग के मानसिक कारण की ओर गया। इधर बहुत से शारीरिक रोग का उचित निदान भी नहीं हो पा रहा था; रोग एक पहेली समझ पड़ता था। रक्त की कमी न रहते

मानसिक अवस्था और शरीर-रोग

एनीमिया की शिकायत पाई जाती। फ्रायड और जैनेट आरम्भ में शरीर-रोग के डॉक्टर थे। विशेषकर स्नायु-संबंधी रोग का उपचार करते थे। रोगियों की चिकित्सा करते समय फ्रायड के मन में यह विचार उठा कि इनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनके रोग का कारण मानसिक विकार है। निरीक्षण और अनुभव के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इन रोगियों में लगभग सत्तर प्रतिशत रोगी मानसिक विकार से त्रस्त हैं और इनको निरोग करने के लिये मानसिक चिकित्सा अधिक लाभप्रद होगी। इस खोज का परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर कई प्रकार के शारीरिक रोग की चिकित्सा जिसमें औषधि व्यर्थ रहती मन की स्थिति का विश्लेषण करके किया जाने लगा। यह विधि सफल भी हुई और इस नयी धारणा की ऐसी तीव्र गति से उन्नति हुई कि मनोविज्ञान का उपयोग औषधि-क्षेत्र (*medicine*) में पूरी तरह पहचाना गया और अनिवार्य्य सा हो गया। मनुष्य यंत्र नहीं। उसकी व्यक्तिगत

आकांक्षाएँ और समस्याएँ हैं जिनके कारण शरीर में भी दोष आ जाते हैं। मानसिक भावना-ग्रन्थि, विकार को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझना आवश्यक है।

कब्ज, डिसेन्टरी, पेचिश, अलसर, शरीर का अकड़ना, नसों का निस्तेज होना, साँस फूलना इत्यादि का कारण शरीर का विकार ही नहीं, मन का भी विकार हो सकता है। कब्ज उदास मन रहने से भी हो जाता है और उदास मन का कारण भावना-ग्रन्थि है। परीक्षा के समय विद्यार्थी को परीक्षा की चिंता और भय से पेचिश हो जा सकती है। कभी-कभी तो ज्वर का भी प्रकोप हो जाता है। इसी प्रकार अँतड़ी का अलसर भी सदैव शरीर के गड़बड़ी से नहीं होता। इसका कारण तीव्र संवेग भी हो सकता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कैनन ने इसका पता लगाने के लिये प्रयोगशाला में कई प्रयोग किये और यह निष्कर्ष निकाला कि पाचन रस (*Gastric juice*) और अन्त्रस्राव (*Intestinal Secretion*) पर संवेग का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जब संवेग तीव्र होता है, अन्त्रस्राव कम होता है और पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो जाती है; जब संवेग साधारण रहता है, पाचन क्रिया ठीक चलती है। अन्त्रस्राव किस परिमाण (*quantity*) में होता है यह संवेग के स्वभाव पर निर्भर है। भय का संवेग तीव्र होने पर इसका प्रवाह कम परिमाणमें होता है, क्रोध का संवेग तीव्र होने पर अधिक। कुछ मनोवैज्ञानिकों की यह भी धारणा है कि ग्रन्थि-स्राव (*Glandular Secretion*) के अनुपात में संवेग की उत्पत्ति होती है। संवेग से ग्रन्थि-स्राव नहीं निर्धारित होता; ग्रन्थि-स्रावसे संवेग निर्धारित होता है। यह धारणा कि चिंता का संवेग होने पर ग्रन्थि-स्राव में कमी हो जाती है ठीक नहीं है; चिंता की भावना ग्रन्थि-स्राव के परिमाण पर निर्भर करती है। संवेग की यह शारीरिक विवेचना (*physiological interpretation*) जेम्स-लैंग द्वारा प्रतिपादित की गयी है।

लकवा में स्नायुतंत्र का संवेदनहीन होने का कारण भी मानसिक

विकार हो सकता है। यह कहना कि यह शारीरिक रोग का लक्षण है और इसका मन से कोई संबंध कभी नही हो सकता गलत है। जब इसका कारण मानसिक विकार होता है तब औषधियाँ व्यर्थ जाती हैं।

इसी प्रकार क्षय रोग मानसिक विकार के कारण हो सकता है। जब रोगी को यह भ्रम हो जाता है कि उसे क्षय हो गया तब वह शरीर से धीरे-धीरे दुर्बल हो जाता है और रोग के कीटाणु अपने आप उत्पन्न हो जाते है। इसका प्रमाण यह है कि आरम्भ में जब उसे क्षय की शिकायत होती है, शरीर का निदान करने पर प्रायः किसी प्रकारका दोष नही मिलता। फेफड़ा बिल्कुल साधारण स्वस्थ रहता है और तापक्रम भी नहीं चढ़ता। तात्पर्य यह है कि शरीर पर मन की स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि कुशल डॉक्टर शरीर के निदान के साथ बात ही बात मे मन का भी निदान कर लेते हैं।

ड्यूटश (*Deutsch*) ने साँस के रोगियों का दो रोचक उदाहरण दिया है। जब इन रोगियो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया, मालूम हुआ कि संवेगात्मक हलचल के कारण ये त्रस्त थे। पुनःशिक्षण (*Re-education*) द्वारा इनके संवेगो का उन्नयन (*Sublimation*) किया गया और साँस का रोग जाता रहा।

कुछ और शारीरिक रोग भी है जिनका कारण मनका विकार हो सकता है। अकस्मात् गिरने से किसीके मन मे यह भय जम जा सकता है कि उसके किसी अंग की हड्डी टूट गई है। यह विश्वास दिलाने पर भी कि उसके हड्डी मे किसी प्रकार का दोष नहीं है वह अपने को चलने मे असमर्थ पाता है। भय के भाव से आक्रान्त होने के कारण शारीरिक उपचार निष्फल जाता है। बिजली की सेंक (*Diathermic treatment*) और मालिश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी परिस्थिति में उसके मन के भ्रम को जो दृढ़ विश्वास के रूप में है निकालना ही रोग का उपचार है। इसके लिए एक ऐसा वातावरण उपस्थित करना चाहिए जिसमें उसे हड्डी

टूटने का ध्यान न रह जाय और वह भूल कर एकबारगी चल पड़े। इस संबंध में समाचार पत्र में एक बार रोचक केस प्रकाशित हुआ। रोगी क्रिकेट का अच्छा खिलाड़ी था। जब से वह जीने पर से गिरा तब से वह सीधा खड़ा न हो पाता। शाम को कुर्सी पर बिठाकर बाग में ले जाया जाता। डॉक्टर परेशान थे क्योंकि उसके हड्डी में किसी प्रकार का दोष एक्सरे लेने पर नहीं मिला। वह धनवान था। अन्ततोगत्वा उपचार के लिए उसने अपने को एक मानसिक-उपचार-शाला में दाखिल कराया। डॉक्टरों ने आदेश दिया कि खेल-तमाशा दिखलाने के लिये उसे कुर्सी पर बिठा कर बराबर ले जाया जाय। एक बार क्रिकेट का मैच हो रहा था। गेंद ठीक से नहीं फेंका जा रहा था। यह कहते हुए वह उधर की ओर बढ़ा "रुको मैं बतलाता हूँ"। बस अपने लंगड़ेपन का स्मरण हो आया और ठप से वह बैठ गया। इस घटना से डॉक्टरों को यह निश्चय हो गया कि उसके पैर की हड्डी नहीं टूटी है और केवल भय के कारण वह नहीं चलता। उसे विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया कि उसके पैर में किसी प्रकार का दोष नहीं है और अंत में वह ठीक हो गया। इसप्रकार की घटनाएँ दैनिक हैं। साधारण सी मोच आने पर भय के कारण जमीन पर पैर नहीं पड़ पाता। एक सैनिक के संबंध में रोचक समाचार आया कि तोप की आवाज़ से भयभीत होकर युद्धमें उसने जीभ निकाली। भय के भाव ने जीभ पर ऐसा लकवा मारा कि वह सदैव के लिए निकली ही रह गयी।

सन् १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा इस प्रकार के बहुत से केस मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख आयें। रणक्षेत्र में लंगड़े, अंधे, बहरे सैनिकों की संख्या बराबर बढ़ रही थी। इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया और यह निष्कर्ष निकला कि सैनिकों की यह दशा अधिकतर मन में युद्ध-भय (*war phobia*) के कारण होती है; शरीर के दोष (*physical disability or defectiveness*) से नहीं। युद्धभय होने से

साधारण सी चोट भी सैनिक को शरीर से निकम्मा बना दे सकती है। पैर में चोट लगी और लँगड़े बन गये; तोप की आवाज़ सुना और बहरे हो गये; और चिनगारी की लपट से अंधे हो गये। सैनिक जानबूझ कर लँगड़ा नहीं बनता न बहरा और न अंधा। अनजाने में, अज्ञात मन की इच्छा की तुष्टि के लिये, शरीर से निकम्मा बन बैठता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर पता लगा है कि सैनिकोंके अज्ञात मन में संबंधियों तथा मित्रोंके प्रति राग होने के कारण युद्ध-भय होता है। ज्ञात मन युद्ध में भाग लेना चाहता है। अज्ञात मन की इच्छाएँ उसे एक ओर खीचती हैं और ज्ञात मन की दूसरी ओर। अज्ञात मन ने कूट-नीति (*diplomacy*) खेला, "वीर योद्धा हो, लड़ाई के मैदान से नहीं भागोगे। अच्छा यह लो; अब तो निकम्मे बन कर समर क्षेत्र छोड़ोगे न"। इस कारण ध्यान रखना है कि शरीर के दोष का कारण अज्ञात मन की इच्छाओं से आक्रान्त होना हो सकता है। जब आभ्यन्तरिक क्षेत्र में इस प्रकार का संघर्ष चलता है, औषधि तथा सूई के इलाज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आमर्शन (*Suggestion*) और विश्लेषण से ही ज्ञात और अज्ञात मन की इच्छाओं में समझौता लाया जा सकता है।

किसी भी रोग से बचने के लिये सबसे उत्कृष्ट उपाय यह है कि मन और शरीर की अवस्था इस प्रकार रखे कि रोग के शिकार होने की संभावना न रह जावे। रोग के आक्रमण से बचने का उपाय करना रोग हो जाने पर उसका उपचार करने से अच्छा है। तपेदिक भयंकर रोग है। इससे बचने के लिये सूई पहले ही लेनी चाहिये। अन्य संक्रामक रोग जैसे चेचक, प्लेग, कालरा और क्षय के लिये भी यह सुझाव उत्कृष्ट है। इसी प्रकार मानसिक रोग से भी बचने के लिये कुछ प्रारम्भिक नियमों (*precautionary measures*) का पालन करना है जिससे इनका आखेट होने से हम अपने को बचा सकें।

रोग से बचने का उपाय

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रोग से बचने के लिये दो बातें ध्यान में रखनी हो : स्वास्थ्य-संबंधी नियमों का पालन करना, और रोग के कारण से परिचित होना। मानसिक स्वास्थ्य-संबंधी नियम इस प्रकार हैं:—

१. जीवन के प्रति विचारयुक्त भाव हो। अर्थात्, मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाय जिससे हम वृत्तियों के दास न बनें और न वैरागी ही। भोगविलास में सतत रत रहने से मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता और न वृत्तियों पर अनुशासन करने से। बात यह है कि मानव को समाज का नियम देखना है और वृत्ति को भी तुष्ट करना है।

२. शरीर स्वस्थ रखा जाय। इसके लिये समय-समय से डॉक्टरी परीक्षा आवश्यक है।

३. कायिक क्रियाओं (*Biological functions*) के प्रति घृणा का भाव न रहे। जिस प्रकार भूख लगने पर मनुष्य भोजन करता है, उसी प्रकार काम-संबंधी क्रियाएँ भी हैं।

४. किसी भी परिस्थिति में कठिनाइयों का सामना करने का अभ्यास रहे।

५. कार्य में सफलता पाने की योग्यता रखे, और आशावादी हो।

६. दुर्बलताओं का बोध हो। दोष को स्वीकार करे। भूल और दुर्बलताओं को स्वीकार करने पर ही सुधार संभव है।

७. सतत प्रयत्नशील और प्रगतिशील रहे। नई योंजनाएँ बनाता रहे। मनुष्य नवीनता प्रिय है। संभव है वर्तमान जीवन से संतुष्ट व्यक्ति उसी कार्यको सदैव करने के कारण भविष्यमें उससे ऊब जाकर असन्तुष्ट हो उठे।

८. व्यवहार कुशल हो। अपने लाभ के साथ दूसरों के हित का भी ध्यान रहे। स्वार्थी व्यक्ति, जिसे दूसरों के हानि-लाभ का ध्यान न हो, मन से स्वस्थ नहीं रह सकता।

९. किसी के प्रति तिरस्कार पूर्ण भाव न रखे। तिरस्कार दोनों ही पक्ष के लिये हानिकारक है।

मानसिक स्वास्थ्य सबंधी इन नियमो का ध्यान रखने से मनुष्य अपने को शरीर और मन दोनो से ही स्वस्थ रख सकता है। इनके अतिरिक्त मन स्वस्थ रखने के लिये मानसिक रोग के कारण से भी परिचित होना अनिवार्य है। रोग के कारण-निवारण की समस्या असामञ्जस्य (*Mal-adjustment*) की समस्या है। अधिकतर मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि बाह्य और अन्तर्जगत में असामञ्जस्य ही मानसिक रोग का मूल कारण है। इस कारण इस पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है।

कुछ मनोवैज्ञानिको का कथन है कि असामञ्जस्य का कारण पैतृक जन्मागत विशेषता (*Hereditary characteristic*) है। सामञ्जस्य स्थापित करने की मादा कुछ व्यक्तियो मे कम होती है, और कुछ मे अधिक। जिनमे यह कम होती है, वे अपने बाह्य और आभ्यन्तरिक जगत् मे किसी प्रकार भी समझौता नही ला पाते। इस प्रसंग मे जैनेट का निम्नतर मानस-सघति (*Low Psychological Tension*) का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। मनुष्य मे यह दोष पैदायशी रहता है और इसके रहने पर जीवन मे सामञ्जस्य लाना कठिन हो जाता है।

असामञ्जस्य

पौकेनबर्गर की धारणा है कि मनुष्य मे असामञ्जस्यका बीज बोया हुआ नही होता। हाँ, कुछ स्वाभाविक अभाव (*natural inadequacy*) के कारण वह अपने प्रकृत अवस्था और वातावरण मे सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता : थोड़ी-सी कठिनाई पड़ी और असंतोष जग उठा। परन्तु यह स्वाभाविक अभाव हर एक व्यक्ति में नहीं होता। वातावरण का प्रभाव नहीं भूला जा सकता। उचित वातावरण होने पर सामञ्जस्य स्थापित करने के स्वभाव का विकास होता है। अन्यथा यह विशेषता अस्पष्ट और अव्यक्त रह जा सकती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर ने वातावरण की महत्ता पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार समाज मे निम्न स्थान, व्यवसाय मे असफलता, वैवाहिक जीवन मे अशाति असामञ्जस्य

(*maladjustment*) के प्रमुख कारण हैं। इनका प्रभाव व्यक्तित्व-सामञ्जस्य (*personality adjustment*) पर बहुत पड़ता है। इस कारण हमें उन समस्याओं का अध्ययन करना है जिनके कारण समाज व्यवसाय और वैवाहिक जीवन मे व्यवस्था नहीं रह जाती।

वातावरण में मुख्य बात अशिक्षा की है। अशिक्षा के कारण मनुष्य की वृत्ति प्रकृत रूप में रह जाती है—परिमार्जित नहीं हो पाती जिससे कि वह अपने को परिस्थिति से संतुलित कर सके।

आर्थिक संकट होने पर मनुष्य की मानसिक और शारीरिक आवश्यकताएँ अपूर्ण रह जाती हैं। भोजन, कपड़ा और रहने की जगह प्रारम्भिक आवश्यकताएँ (*basic needs*) हैं। इन शारीरिक मॉग की पूर्ति के लिये आर्थिक सुविधा आवश्यक है। अपने को दिखलाने की वृत्ति को तृप्त करने के लिये भी धन की आवश्यकता पड़ती है। गरीबी रहने पर मनुष्य को समाज में ऊँचा स्थान नहीं मिलता। फलतः वह अपने को तुच्छ और निम्न समझने लगता है। आत्मलघुता का भाव अथवा हीनत्व-ग्रन्थि (*Inferiority Complex*) पड़ जाती है और वह सामन्जस्य नहीं ला पाता।

माता-पिता का बाल्यावस्था में दुर्व्यवहार भी असामन्जस्य का कारण है। इससे बालक आगे चलकर अपने जीवन मे सामन्जस्य लाने मे असमर्थ हो जाता है। बालक के संवेग के विकास पर माता-पिता के व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ता है। फ्रॉयड ने यहाँ तक कहा है कि सारी भावना-ग्रन्थि (*Mental Complexes*) का बीज बाल्यावस्था के अनुभव में है।

असामन्जस्य के संबंध में संघर्ष (*Conflict*) और दमन (*Repression*) के सिद्धान्त विशेष महत्त्व के हैं। संघर्ष का अर्थ है दो विपरीत इच्छाओं का एक साथ उठना। प्रकृत इच्छा हमें एक ओर खींचती है, जीवन अर्जित आदर्श दूसरी ओर। यह बाह्य (*objective*) और आभ्यन्तरिक (*subjective*) क्षेत्र का संघर्ष है। इस संघर्ष में एक की जय और दूसरे

की पराजय होती है। अधिकतर प्रकृत इच्छाएँ पराजित होती हैं। इनका दमन किया जाता है और ये ज्ञात मन से निकलकर अज्ञात मन में घर बना लेती हैं। तब भी प्रदर्शन के लिये सदैव मौका ढूढ़ती रहती हैं और अपना रूप बदल कर प्रकट होती हैं। इसका प्रमाण स्वप्न तथा विक्षिप्तावस्था की शारीरिक चेष्टाएँ हैं। साधारण लोगों का विश्वास है कि इच्छाएँ ज्ञात मन से बहिष्कृत होने पर शेष या निष्प्राण हो जाती हैं। पर यह बात नहीं। इच्छाएँ अधिक क्रियामण हो जाती हैं। कभी कभी दो विपरीत वृत्तियों के बीच मे भी संघर्ष होता है। जो वृत्ति तीव्र और बली होती है उससे संबंधित इच्छाओं (*Motivations*) की तुष्टि कर दी जाती है और अन्य इच्छाओं का दमन।

फ्रायड ने काम-वृत्ति पर बल दिया और इस वृत्ति के दमन को सब प्रकार के असामञ्जस्य का कारण समझा। पर वास्तव में असामञ्जस्य का एक मात्र कारण काम-वृत्ति का दमन नहीं है। अन्य वृत्तियों का दमन भी इसका कारण हो सकता है। सामान्य रूप से इच्छानुगत भाव (*motivation*) के दमन की तीव्रता (*intensity*) पर असामञ्जस्य की समस्या बहुत कुछ निर्भर करती है। जब दमन की क्रिया साधारण रूप से चलती है, असामञ्जस्य का प्रश्न कम उठता है; जब तीव्र रहती है, असामञ्जस्य (*maladjustment*) अधिक होता है। यह असामञ्जस्य संवेगात्मक, क्रियात्मक और बोधात्मक तीनों क्षेत्रों में होता है। संवेग प्रबल होने पर मन अस्थिर हो जाता है, किसी प्रकार के काम मे चित्त नहीं लगता और स्मृति शक्ति क्षीण हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि असामञ्जस्य का निवारण किस प्रकार किया जाय। इस प्रसंग में शिक्षा की उपयोगिता पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

असामञ्जस्य से बचनेका उपाय

मुन्स्टरबर्गका कथन है कि इच्छानुगत भाव (*Motivation*) और रूढ़ि-परम्परा का ध्यान रखकर शिक्षा देने से मनुष्य के जीवन में सामञ्जस्य स्थापित होता है।

शिक्षा से तात्पर्य्य केवल साक्षर बनना नहीं। शैशवावस्था से जीवन के अंत तक मानव जो कुछ सीखता है वह शिक्षा है। एक प्रकार से शिक्षा मानव का वातावरण से सम्पर्क और प्रभाव है। इस पर उसका व्यक्तित्व-संतुलन पूर्णतः निर्भर है। विशेषकर प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य जो कुछ सीखता है समझता है और अनुकरण करता है उसका बहुत महत्व है। बाल्यकाल की महत्ता हर एक मनोवैज्ञानिक ने निर्विवाद माना है। युवावस्था की सभी समस्याएँ बाल्यावस्था के अनुभवों में निहित हैं। फ्रायड के अनुसार तो हिस्टीरिया का, जो एक प्रकार का मानसिक रोग है और आभ्यन्तरिक क्षेत्र के असामञ्जस्य का द्योतक है, एक मात्र कारण बचपन का मानसिक आघात (*Traumatic experiences of early childhood*)* है। जब बालकके संवेग के विकास के लिये उपयुक्त साधन नहीं मिलता, उसके संवेग का उचित विकास तथा परिमार्जन युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में पहुँच कर भी नहीं हो पाता और वह अपने को परिस्थिति से सामञ्जस्य स्थापित करने में असमर्थ पाता है। असामञ्जस्य की समस्या की दृष्टि से संवेगात्मक पहलू (*emotional aspect*) का बहुत महत्व है। बालक के संवेगात्मक विकास पर माता-पिता के परस्पर संबंध, उनका बालक के प्रति व्यवहार और उनकी आर्थिक व सामाजिक अवस्था का विशेष प्रभाव पड़ता है।

माता-पिता के अतिरिक्त बालक के संवेगात्मक विकास पर शिक्षक का भी प्रभाव पड़ता है। शिक्षक को वालक के मनोभाव का पूर्ण ध्यान रहे जिससे कि उसका प्रकृत संवेग व्यवस्थित रूप ले और उसमें व्यग्रता अक्खड़पन इत्यादि का भाव न उठे। तभी उसके व्यक्तित्व में संतुलन हो पावेगा। जब जीवन की गंभीरता और विषम परिस्थिति से वह परिचित रहेगा, भविष्य में समस्या उठने पर भी नहीं घबड़ायेगा; सोच विचार कर कार्य करेगा। बात

* मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—पद्मा अग्रवाल पन्ना:-८०-८१

यह है कि मानव का स्थायी भाव (*Sentiments*) जिससे आचरण बना है पूर्णतः सवेग पर निर्भर है। बचपन मे बनाया हुआ भाव (*attitude*) व्यक्तित्व का स्थिर भाग हो जाता है। एडलर ने बाल्यकाल की महत्ता विशेषरूप से दिखलाया है "मनुष्य का चरित्र, व्यवहार तथा उसका भविष्य उसके बचपन के निर्धारित जीवन के ढंग (*mode of life*) पर अवलबित है। यह, जब बालक ५ वर्ष का होता है तभी निर्धारित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी 'जीवन शैली' (*Style of life*) होती है क्योंकि जीव मे वैयक्तिक भेद है। जो व्यक्ति बचपन मे उपयुक्त वातावरण के कारण उत्कृष्ट 'जीवन शैली' (*Style of life*) बनाता है वह चरित्रवान और समाज सुधारक सिद्ध होता है। जो उपयुक्त 'जीवन शैली' नहीं बनाता वह चोर तथा अपराधी के रूप मे समाज मे प्रवेश करता है। एडलर ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट लाइफ शुड मीन टु यू' मे इस विचार की विस्तृत व्याख्या की है।"*

असामञ्जस्य से बचने के लिये अच्छा यह है कि मनुष्य को बाल्यावस्था से ही अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान रहे : आर्थिक अवस्था (*financial condition*), सवेगात्मक अनुभव (*emotional experiences*) और आकस्मिक उत्तरदायित्व (*accidental responsibilities*) के बारे मे वह अनभिज्ञ न रहे। मनुष्य जब प्रारम्भ से अपनी गरीबी जानता है और सामान्य रूप से गरीबी मे आई मुसीबतो से परिचित रहता है, निर्धनता आने पर भी अपने को संतुलित रखता है। जब उसे अपने या दूसरे के संवेगात्मक अनुभवों के स्वभाव का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है तब वह किसी भी परिस्थिति मे विक्षिप्त नहीं होता। दायित्व का भाव होने से सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है। स्थिति समझने पर स्वयं उचित-अनुचित का निर्णय कर लेता है। मौरगन का कथन है कि विषम

---

* 'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ १९२

परिस्थिति के विषय में अनभिज्ञ रहना स्वास्थ्यप्रद नहीं। परन्तु इस मत से सब मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं। विषम परिस्थिति के ज्ञान का प्रभाव बालक के विकास पर हानिकारक होता है। इससे उन्हें बचपन से ही चिंता घेर लेती है। जीवन की विषमता की जानकारी रहने से बालक मन से स्वछंद नहीं हो पाता।

यह सब सुझाव औसत और तीव्र बुद्धि के व्यक्तियों के लिये उपयुक्त है; मंद बुद्धि के व्यक्ति के लिये नहीं। मंद बुद्धि का व्यक्ति अधिकतर प्रवृत्तिशील (*Impulsive*) होता है। बुद्धि की कमी के कारण प्रवृत्तियों का दास बनता है। यदि संवेगात्मक स्थिरता लाने का प्रयत्न भी किया तो असामाजिक क्रियाओं के द्वारा। उदाहरणार्थ, काम का संवेग जाग्रत होने पर व्यभिचार किया; भूख लगी तो चोरी। किन्तु इस प्रकार का क्षणिक सामञ्जस्य व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से भी एक प्रकार का असामञ्जस्य है। इस कारण मंद बुद्धि के व्यक्तियों के जीवन में सामञ्जस्य लाने के लिये उनकी योग्यता और बुद्धि के अनुकूल किसी कार्य (*occupational therapy*) में उनको लगा देना है। वे यंत्तवत् कार्य कर, अपने को व्यस्त रखकर संभव है मानसिक रोग, असंतोष और विक्षिप्तता से अपनी रक्षा कर लें। कार्य में व्यस्त रहने पर मनुष्य को संवेगात्मक दृष्टि से अस्थिर होने का कम मौका मिलता है। कहावत है "खाली दिमाग में भूत का निवास रहता है।"* कभी-कभी सांस्थायिक व्यवस्था (*Institutional care* भी लाभप्रद होती है। यहाँ व्यक्तियों को बुद्धि और रुचि के अनुकूल सामञ्जस्य रखने का निर्देशन मिलता है। सब प्रकार से उनके संवेग को परिमार्जित करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे वे आचरण मे प्रवृतिशील (*Impulsive*) न रह जावें।

जब संवेग का संबंध उपयुक्त वस्तु से स्थापित न होकर अनुपयुक्त वस्तु

"Empty mind is a devil's workshop."

से स्थापित हो जाता है तब अभावन (*decondition*) या विभावन (*recondition*) द्वारा संवेग को उस वस्तु से मुक्त करके नये भाव-वस्तु में लगाया जा सकता है। बालक में किसी विशेष घटना के अनुभव के कारण अँधेरे के लिये भय का भाव उत्पन्न हो गया है। यदि उसे कुछ विशेष प्रबन्ध करके भय का भाव हटाकर अँधेरे में सुख का अनुभव कराया जाय तो उसका भय का संवेग जाता रहेगा। भय के भाव को हटाना अभावन (*decondition*) है और सुख का अनुभव कराना विभावन है। विभावन लाभप्रद और शिक्षाप्रद (*educative value*) है। असामञ्जस्य की समस्या संवेग की समस्या है। संवेग का संबंध उचित वस्तु से कायम करने का अर्थ है असामञ्जस्य की समस्या को सुलझाना।

संवेग के संबंध में यह भी ध्यान रखना है कि संवेग अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। फ्रायड की दृष्टि से मानव में केवल प्रेम का संवेग है और यही जीवन में सब प्रकार के असामञ्जस्य लाने का मूल कारण है। एडलर की दृष्टि से हमारी समस्याएँ आत्मभाव के संवेग से संबंधित हैं। पर वास्तव में, जैसा भारतीय दर्शन में कहा गया है, मनुष्य में कई प्रकार के संवेग हैं। यह मैकडूगल का भी सिद्धान्त है। काम, क्रोध, लोभ, संवेगों में जब क्रम तथा व्यवस्था रहती है तब जीवन में सामञ्जस्य संभव है। जो व्यक्ति एक संवेग को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक मान लेता है उसके मनोभाव में सामञ्जस्य नहीं रहता। कामोद्दीपन से प्रेरित होकर मातृ भाव, (*tenderness*) और समाज भाव (*Sociability*) की अवहेलना नहीं करना है। मानसिक शक्ति को अन्य प्रकृत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बचाये रखना है। यदि सारी शक्ति का व्यय काम-वृत्ति की तुष्टि में हो जायगा तो जीवन में समायोग नहीं आ सकता। मन में हलचल होगी और अन्य संवेग के अतृप्त रहने के कारण मनुष्य अस्थिर हो जायगा। यही बात क्रोध और भय के संवेग के साथ है। बात यह है कि मानव के जीवन में सब

वृत्तियोंका अपना महत्व है। एक का प्राबल्य होने से हानि होती है। क्रोध की प्राबल्यता होने से मनुष्य विद्रोही हो जायगा और भय के संवेग से अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा।

सामञ्जस्य के लिये एकाकी जीवन भी हानिकारक है। मित्रों के सम्पर्क का अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे मनुष्य व्यवहार कुशल बनता है, आदान-प्रदान तथा सामाजिक भाव का प्रादुर्भाव होता है। वैवाहिक, सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में सामञ्जस्य लाने की मादा का विकास होता है। इन विशेषताओं के न रहने पर मनुष्य का पारिवारिक जीवन सुसंगठित और व्यवस्थित नहीं हो सकता।

इस तरह मन को सब प्रकार के विकार से रहित और स्वस्थ रखने के लिये संवेगात्मक जीवन (*emotional life*) में संतुलन लाना नितान्त आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि संवेग-क्षेत्र में असामञ्जस्य से बचने का प्रयत्न करते हुये भी यदि रोग का आक्रमण हो जाय तो इसका उपचार कार्य किस प्रकार होगा उपचार कार्य चार भागमें बाँटना है:—

मानसिक उपचार प्रणाली

१. निदान (*Diagnosis*)
२. उपचार परिचय (*Clinical Interview*)
३. मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ (*Psychological Tests*)
४. अबाध मनः आयोजन (*Free-Association*)

रोग के निदान करने के लिये चिकित्सक को साधारण और असाधारण व्यक्तियोंके मन की दशा का सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये और यह भी कि इनमें कहाँ तक भेद है। एक व्यक्ति यदि असाधारण है तो किस हद तक? क्या रोगी सचमुच मानसिक रोग से त्रस्त है? शारीरिक रोग में यह प्रश्न नहीं उठता। कुछ न कुछ बाहरी लक्षण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शरीरसे स्वस्थ नहीं है। आसानी से रोग का निदान हो जाता है। स्टेथेसकोप थरमामीटर इत्यादि यंत्र भी हैं जिनसे रोग की तीव्रता नापी जा

सकती है। पर मानसिक रोग में जब तक रोगी पागलपन की अवस्था को न पहुँचे—दूसरों पर आक्रमण न कर बैठे, अकारण हँसना रोना न प्रारंभ करे—यह निर्धारित करना कि वह रोगी है कठिन है। कारण यह है कि विक्षिप्तावस्था साधारण अवस्था का ही विस्तार है। यह 'असाधारण मनोविज्ञान' (*Abnormal Psychology*) के सभी मनोवेत्ताओं ने माना है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग के शब्दों में साधारण व्यक्तियों को उन्हीं भावना-ग्रंथियोंका सामना करना पड़ता है जो दुर्बलको विक्षिप्त बनाती हैं। * फलस्वरूप यह समझना कठिन हो जाता है कि कौन व्यक्ति साधारण है और कौन असाधारण। वास्तव में साधारण और असाधारण व्यक्ति में विशेष भेद नहीं रहता। केवल यह कि साधारण व्यक्ति में भावना-ग्रन्थि को सुलझाने की योग्यता-मादा होती है और असाधारण में इसका अभाव।

इसके अतिरिक्त मानव की मनः स्थिति का विश्लेषण सहज नहीं है। जब तक किसी में सूक्ष्म पैनी दृष्टि और विश्लेषणात्मक शक्ति न हो तब तक वह दूसरे के मनोभाव को नहीं समझ सकता। साथ ही, मानव में व्यक्तिगत भिन्नता है। संभव है कि उसका असामान्य व्यवहार उसकी व्यक्तिगत विशेषता हो जिसे चिकित्सक असाधारण अवस्था का लक्षण समझ बैठे। तब प्रायः गलत निदान हो जाता है।

यद्यपि साधारण और असाधारण के बीच में रेखा नहीं खींची जा सकती तो भी इन्हें निम्न प्रश्नों के आधार पर पृथक् किया जा सकता है:—

१. उस व्यक्ति-विशेष की रुचि तथा उद्देश्य *(motives)* क्या है? उसने अपनी किन इच्छाओं का दमन किया है; किनका विकास हुआ है? क्या उसकी इच्छाएँ अतिशयी हैं?

२. उसकी रुचि का विकास किस स्तर पर पहुँचा है? ऐसा तो नहीं

* "The normal has to contend the same complexes that make a neurotic ill"

कि प्रौढ़ होते हुए वह बचपन दिखाता है। इच्छाओं का विकास ही न हुआ हो।

३. वह विषय-वस्तु क्या है जिससे उसने अपने अहं का तादात्म्य (*Ego-Identification*) स्थापित किया है? क्या वह वातावरण से मेल रखता है? वास्तव में वह क्या बनना चाहता है?

४. उसका स्वभाव कैसा है? सुविधाएँ रहते भी क्या वह उदास अनमना रहता है या प्रसन्न?

५. उसकी रुचि या ध्यान की धारा किधर को है? भूत भविष्य तथा वर्तमान में से उसकी लगन (*orientation*) किसमें है?

६. अन्य व्यक्तियों का उसके विषय में क्या विचार है? क्या वे उसके जीवन को असमायोजित समझते हैं जब कि वह अपने को समायोजित समझता है?

७. उसका विचार विवाह और गार्हस्थ्य जीवन के प्रति क्या है? क्या वह विवाह के दायित्व से भागता है? उसे परवर्गी (*Hetrosex*) को देख कर क्या झेंप आती है?

८. उसका व्यक्तित्व किस प्रकार का है? वह अन्तर्मुखी है या बहिर्मुखी—कल्पनाप्रेमी या समाज-प्रेमी।

९. उसकी चेष्टा और भाव कैसे हैं? वह प्रबल वृत्ति का है या उदासीन।

१०. क्या उसपर कठिनाइयों की प्रतिक्रिया पड़ती है? वातावरण से वह विशेष प्रभावित होता है या नहीं।

इन सब प्रश्नों के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति कहाँ तक रोग से ग्रस्त है। जो क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सामान्य नहीं हैं—साधारण जीवन रहने पर नहीं बरती जातीं—वे असाधारण होती हैं। इनके आधार पर रोगी का निदान (*diagnosis*) होता है।

साधारण अवस्था की प्रतिक्रियाएँ मनोह्रास की अवस्था की प्रतिक्रियाओं से निम्नलिखित बातों में भिन्न हैं :—

साधारण वर्ग के व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ नियमित होती हैं; मनोह्रास की अवस्था मे प्रतिक्रियाएँ बदलती रहती हैं। उत्तेजन एक होते, अभी एक प्रकार की प्रतिक्रिया मिलती है और फिर दूसरे प्रकार की। बात यह है कि मानसिक ह्रास होने पर रोगी की प्रतिक्रियाएँ पूर्ण रूप से भावना-ग्रन्थियों (*Complexes*) पर निर्भर करने लगती हैं। जब जैसी भावना-ग्रन्थि रही (*Complex*) उसी के अनुरूप प्रतिक्रिया होती है।

साधारण अवस्था में मनुष्य मे सूक्ष्म (*abstract*) और स्थूल (*concrete*) दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं की शक्ति रहती है। किसी व्यक्ति के वफ़ादारी और सहनशीलता की प्रशंसा सुनकर प्रभावित होना सूक्ष्म प्रतिक्रिया (*abstract reaction*) है ; गुलाब के फूल को देखकर उसकी सुगंध, सुदरता से प्रभावित होना स्थूल प्रतिक्रिया (*concrete reaction*)। असाधारण अथवा मनोह्रास की अवस्था मे सूक्ष्म-स्तर पर प्रतिक्रियाएँ (*reaction on abstract level*) नहीं होतीं, क्योंकि तब विचार-विनिमय, सोचने-समझने और निर्णय की शक्ति क्षीण पड़ जाती है। सूक्ष्म प्रतिक्रिया के लिये विचार-विनिमय की शक्ति आवश्यक है।

मनोह्रास की अवस्था मे रोगी यंत्रवत् कार्य करता है। अभ्यास का गुलाम रहता है। स्थिति में थोड़ा परिवर्तन होते ही अपने को प्रतिक्रिया देने में असमर्थ पाता है। एक रोगी का अभ्यास था कि वह ताला खोल करके कमरे मे प्रवेश करता। जब उसे कमरे मे ताला बंद किया हुआ न मिलता तब वह ताली लिये भौचक्का सा खड़ा ताकता रह जाता और उसे यह न समझ पड़ता कि वह कमरे में किस प्रकार जाय। भरा हुआ गिलास होने पर जल पी लेता, खाली गिलास देकर यदि उससे पूछा जाता कि जल कैसे पिया जाता है तब वह नहीं बतला पाता। इस तरह उसकी यह विशेषता थी कि जिस कार्य के लिये वह अभ्यस्त था कर लेता; किसी प्रकार का परिवर्तन होने पर बुद्धि नहीं लगा पाता। गोल्डस्टर्न और शीरर ने एक रोचक उदाहरण दिया है :—

रोगी से कहा गया, "देखो ! कंघा उठाकर अपने-परीक्षक को दे दो।" उसने आदेश मान लिया पर पहले उस कंघे से अपना बाल बनाया और फिर कंघा देने गया। बात यह थी कि यह उसका अभ्यास था। इच्छा-अनिच्छा, सोच-विचार का प्रश्न नहीं था।

मानसिक रोग के निदान (*diagnosis*) के लिये हौलिंगवर्थ के अनुसार बुद्धि-परीक्षा (*Intelligence Test*) आवश्यक है क्योंकि मानसिक रोग और बुद्धि मेंनिकटवर्त्ती संबंध है। बुद्धि-माप की सहायता से रोग का निदान किया जा सकता है। यद्यपि बुद्धि-मात्रा (*I.Q*) के अनुपात को देखकर यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि अमुक व्यक्ति असाधारण है क्योंकि साधारण व्यक्ति भी मंद-बुद्धि के होते हैं तथापि रोग किस वर्ग का है इसका पता अवश्य लग जाता है। वेल्स और केली के अनुसार निदान के लिये बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार इससे रोग के प्रकार का भी पता नहीं लगता। बुद्धि-मात्रा पर पागलपन निर्भर नहीं करता। रोग और बुद्धि में कोई संबध नहीं है। यहाँतक कि असामयिक मनोह्रास (*Dementia Praecox*) का रोग भी जिसका प्रधान लक्षण बाल्यावस्था (*Infantile stage*) की ओर प्रत्यावर्त्तन (*Regression*) है, बुद्धि की कमी के कारण नहीं, मानसिक दोष के कारण होता है।

बैबकौक ने रोग का निदान करने के लिये 'शाब्दिक ज्ञान-परीक्षा' (*Vocabulary Test*) का अनुसंधान किया। किसी व्यक्ति के शाब्दिक ज्ञान (*Vocabulary capacity*) से उसके मन की स्थिति का आसानी से पता लगाया जा सकता है। साधारण व्यक्ति का शाब्दिक ज्ञान समृद्ध होता है; असाधारण का कम रहता है। बैबकौक के अनुसार यदि किसी व्यक्ति का शाब्दिक ज्ञान कम है तो इसका अर्थ है कि उस व्यक्ति का मानसिक ह्रास हुआ है। मनुष्य विशेषकर शब्दों का ज्ञान बाल्यावस्था में करता है। उसकी दृष्टि प्रकार-प्रकार की वस्तुओं की ओर जाती है, भाव

(*Ide*‹ *tion*) उठते हैं और वह मन में कल्पना-धारणाएँ (*conception*) बना लेता है। मानसिक ह्रास होने पर उसमें शब्दों के अर्थ समझने, पहचानने और पुनः स्मरण करने की शक्ति कम हो जाती है। वह वस्तुएँ देखता है और अनुभव करता है, पर कल्पना-धारणा (*conception*) नहीं बना पाता। जो कुछ शाब्दिक ज्ञान है उसका भी प्रयोग भावना-ग्रंथि के कारण नहीं कर पाता। प्रतिक्रिया या तो करता ही नहीं या देर से होती है। जो शब्द कठिन होते हैं, उन्हें वह किसी प्रकार नहीं सीख पाता।

भाषा-ज्ञान और कार्य-कुशलता जानने के लिये बैबकौक ने 'शाब्दिक ज्ञान परीक्षा' (*Vocabulary Test*) और 'बैटरी आफ थरटी टेस्टस' का प्रयोग अस्पताल के दो रोगियों पर एक साथ किया। परीक्षा लेने पर बैटरी स्कोर दोनों रोगियों का एक ही मिला। भाषा-ज्ञान के संबंध में एक का स्कोर ११ था और दूसरे का ८। १७ स्कोर होने का अर्थ है कि वह बुद्धि में साधारण से ऊँचा और ८ स्कोर का अर्थ है कि उसका मानसिक ह्रास हुआ है। जिसका स्कोर १७ था उसको इस आशा में रिहा कर दिया गया कि वह स्वयं स्वस्थ हो जायगा। अपने आप सुझाव निकाल लेगा। जिसका स्कोर कम था उसे अस्पताल में रख लिया गया।

बैबकौक के सूझ पर आक्षेप हुआ। उसकी योजना का कोई उपचार मूल्य (*clinical value*) है इसका समर्थन वैज्ञानिकों ने नहीं किया। पर वास्तव में 'शाब्दिक ज्ञान-परीक्षा' का मूल्य चिकित्सा की दृष्टि से है। बुद्धि का ह्रास प्रायः रोग का सूचक होता है।

केन्ट और रौज़ेनआफ ने रोग के निदान के लिये 'संबंध-परीक्षा' (*Association Test*) का अनुसंधान किया। यह परीक्षा १००० साधारण और २४७ मानसिक रोग से आक्रान्त व्यक्तियों पर प्रयोग करने के बाद प्रामाणिक (*Standardised*) बनी। दोनों वर्ग के व्यक्तियों को शब्दों की एक ही सूची दी गयी। इस सूची में १०० शब्द रखे गये थे। हर एक

शब्द की प्रतिक्रिया प्रयोग-पात्र को बिना विचार किये निश्चित समय के भीतर देना पड़ता। प्रतिक्रिया में हर एक व्यक्ति को पृथक्-पृथक् समय लगता। जो समय प्रतिक्रिया में उसे लगता और जो शब्द वह कहता उसके आधार पर यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता कि वह व्यक्ति साधारण वर्ग का है या असाधारण। प्रतिक्रिया बहुत कुछ पिछले अनुभव पर निर्भर करती है। यदि पिछला अनुभव और वर्तमान मन की अवस्था साधारण रही तो प्रतिक्रिया साधारण होती; जटिल होने पर असाधारण। प्रतिक्रियाएँ अनियंत्रित (*Spontaneous*) होती हैं। इसी कारण उस व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति को समझने के लिये ये पर्याप्त हैं। इनका विश्लेषण करके उस व्यक्ति विशेष के मनोभाव का सूक्ष्म अध्ययन किया जा सकता है।

परिचय

निदान के बाद परिचय (*clinical Interview*) का प्रश्न उठता है। जब रोगी परिचय पर बुलाया जाय तब चिकित्सक को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये :

१. रोगी के साथ अपना व्यवहार सौम्य, सहानुभूति और प्रेम का रखना है: भूल से भी किसी प्रकार का रूखा व्यवहार नहीं करना है।

२. रोगी की व्यक्तिगत समस्या से आत्मीयता का भाव स्थापित करके उसमें रुचि लेना और शांत मन से जो कुछ रोगी कहे सुनते रहना है।

३. रोगी को पूरा आराम देना है।

४. रोगी का स्वास्थ्य विवरण (*Medical report*) लेना है।

५. जो कुछ बौद्धिक कार्य किया है उसे समझना है जिससे आगे चलकर बुद्धि-परीक्षा लेने में आसानी हो।

६. परिचय व्यवस्था निजी रखना है।

परिचय (*Clinical Interview*) के समय कुछ रोगी तो अपने व्यक्तिगत समस्या को पहले परिचय में ही व्यक्त कर देते हैं; कुछ को

हिचक होती है। जब रोगी अपनी समस्या को बतलाना प्रारम्भ करे तब चिकित्सक को सतर्क रहना आवश्यक है। उसे अपना व्यवहार इस प्रकार रखना है कि वह रोगी का विश्वास न खोवे और न उसके व्यक्तित्व विशेष मे विभोर हो जाय। मनः समीक्षक को भावात्मक (*Positive Transference*) और अभावात्मक संक्रमण * (*Negative Trans-*

* **मनोविश्लेषण में संक्रमण (Transference) की समस्या प्रमुख है। संक्रमण दो प्रकार से होता है : भावात्मक और अभावात्मक। 'अभावात्मक संक्रमण' (Negative Transference) में रोगी के मन में चिकित्सक के प्रति श्रद्धा नहीं होती। 'भावात्मक संक्रमण' (Positive Transference) में रोगी चिकित्सक के प्रति आकर्षित हो जाता है। उसे केवल अपना शुभचिन्तक ही नहीं मानता वह उसके प्रेम श्रद्धा आकर्षण का पात्र बन जाता है। अभावात्मक संक्रमण होने पर मनःसमीक्षक के लिये रोगी के मन में अपने प्रति विश्वास जमाना कठिन होता है, और यदि भावात्मक संक्रमण हुआ तो रोगी मनः समीक्षक के प्रति ऐसा आकर्षित होता है कि पुरानी ग्रन्थियों से छुटकारा पाने के बदले वह और नई ग्रन्थियाँ डाल देता है जो पुरानी ग्रन्थियों का केवल रुपान्तर होती हैं। मनः समीक्षक के सम्मुख कठिन प्रश्न यह उठता है कि वह रोगी से किस प्रकार का व्यवहार करे जिससे अभावात्मक या भावात्मक संक्रमण मानसिक विश्लेषण के कार्य में बाधा न डाले। अभावात्मक संक्रमण से उत्पन्न कठिनाई से बचने के लिये मनः समीक्षक को स्वयं प्रभावशाली व्यक्तित्व का होना चाहिये जिससे वह अपने विशिष्ट ज्ञान, हँसमुख स्वभाव तथा सद्व्यवहार से रोगी को अपनी ओर खींच सके। भावात्मक संक्रमण से बचने के लिये मनः समीक्षक को बात बात में तथा व्यवहार में रोगी को बराबर बतलाते रहना चाहिये कि उसके प्रति उसका आकर्षण बिलकुल झूठा है और इस आकर्षण द्वारा वह केवल अपने अतीत के प्रेम कहानी का पुनरावाहन कर रहा है। इसका परिणाम**

ference) की समस्याओं को कुशलता से सुलझाना है। भावात्मक संक्रमण का प्रभाव बुरा पड़ता है। मनः समीक्षक और रोगी के बीच एक विचित्र आकर्षण का संबंध स्थापित हो जाता है। क्षणिक आवेश में रोगी अपना सब व्यक्तिगत इतिहास खोल देता है; पर बाद में प्रायः उसे अपनी स्वीकृति (*confession*) पर ग्लानि होती है और वह अपने को मनः समीक्षक की ओर से पूर्णतः समेट लेता है। अभावात्मक संक्रमण होने पर मनः समीक्षक अपने को रोगी का विश्वासपात्र बनाने में असफल पाता है।

जब रोगी में आभ्यन्तरिक विरोध (*Subjective resistance*) बहुत तीव्र होता है और प्रयत्न करने पर भी जान या अनजान में वह अपने कमजोरियों को कह नहीं पाता तब मनः समीक्षक को परिचय के समय रोगी के मन की स्थिति को समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। उसका मुख्य कार्य अपने प्रेम-व्यवहार से रोगी के मन में अपने प्रति विश्वास, मित्रता और प्रतिष्ठा की भावना उत्पन्न करना है। विश्वास हो जाने पर रोगीके मन की गांठी अपने आप ढीली पड़ जायेगी। हिचकिचाहट कम होते ही वह अपनी समस्या और कमजोरी को प्रत्यक्ष (*direct*) रूप से नहीं तो परोक्ष (*indirect*) रूप से अवश्य प्रकट कर देगा।

परिचय (*Clinical Interview*) के समय मनः समीक्षक अधिकतर रोगी से उसके घर के वातावरण, सामाजिक अवस्था तथा आर्थिक स्थिति के विषय में बातें करता है। परिस्थिति का सामान्य खाका अपने मन में बना लेता है। अपने कुशल बुद्धि से रोगी के व्यक्तिव्य की विशेषताओं का भी पता लगाता है। रोगी का स्वभाव क्या है? वह कायर है या निडर,

---

यह होगा कि रोगी के मन में मनःसमीक्षक के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण उपज न पायेगा।"

मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ : पन्ना १११

औरों से लिप्त या उदासीन इत्यादि। परिचय के बाद रोग की गम्भीरता का भी आभास मिल जाता है।

✓अब प्रश्न मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में उठता है। व्यक्तित्व अध्ययन के लिये मनोविज्ञान में चित्र-कथानक (*Thematic Apperception Test*) और मसी अंक (*Ink Blot Tests*)

व्यक्तित्व परीक्षाएँ

दो प्रमुख परीक्षाएँ हैं। ये आरोपण परीक्षाएँ (*Projective Tests*) हैं। जिस प्रकार परदे पर रील में लिया चित्र चित्रण होता है उसी प्रकार इन परीक्षाओं में प्रयोग-पात्र के कल्पित कथानक और वर्णन में व्यक्तित्वकी वास्तविक छाया मिलती है। प्रतिक्रियाएँ मन की स्थिति का प्रतीक हुआ करती हैं। वास्तव मे ये आभ्यन्तरिक उत्तेजन के परिणाम हैं। रोगी के अज्ञात मन की इच्छाओं तथा आभ्यन्तरिक भावना-ग्रन्थियों का आरोपण अधिकतर उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया में होता है।

चित्र-कथानक परीक्षा का अन्वेषण डा० मरे ने आरोपण के सिद्धान्त (*Principle of Projection*) के आधार पर किया। इस परीक्षा में

चित्र-कथानक परीक्षा

प्रयोग के लिये एक सादा कार्ड और १६ चित्र रखे गये हैं। ये परस्पर के संबंध (*human relations*) और भाव-संवेग के आधार पर बने हैं।। चित्र गूढ़ हैं और इनकी विवेचना कई अर्थ में की जा सकती है। परीक्षक बारी-बारी से एक-एक चित्र प्रयोग-पात्र को दिखलाता है और उससे नियत समय में चित्र पर कहानी लिखने को कहता है। समय ५ मिनट का रहता है। प्रयोग-पात्र के मन में चित्र को देखकर एक बारगी भाव जो उठता है उसे कहानी रूप में वह लिख देता है और परीक्षक उसके कल्पित कथानक के आधार पर उसका व्यक्तित्व अथवा उसके मन के भावों को समझने का प्रयत्न करता है। वह प्रयोग-पात्र के कथानक से बहुत कुछ उसके आभ्यन्तरिक जगत् (*Subjective life*)का पता लगा लेता है। बात यह है कि प्रयोग-पात्र की रचना उसकी

आभ्यन्तरिक इच्छाओं के स्वभाव और तीव्रता के आधार पर होती है। जो कुछ वह चित्र में देख कर वर्णन करता है वह पूर्ण रूप से उसके अज्ञात मन की भाव-कल्पनाओं (*uuconscious phantasies*) के रंग मे रंगा रहता है। हर एक व्यक्ति के अज्ञात मन (*Unconscious Mind*) में पृथक्-पृथक् भाव-कल्पना विचार और ग्रन्थियाँ होती हैं। यही कारण है कि एक चित्र का दो व्यक्ति अलग-अलग वर्णन (*description*) देता है; और इसलिये विवेचना (*Interpretation*) भी अलग होती है। कथानक की ठीक विवेचना करने के लिये परीक्षक को कार्य कुशल होना चाहिये, उसमें सूक्ष्म दृष्टि होना चाहिये और उसे मानव की आवश्यकताओं इच्छाओं और कमज़ोरियों को समझना चाहिये।

मसी अंक परीक्षा

मसी अंक (*Ink Blot Tests*) अथवा रौरशक परीक्षा १९२१ में प्रकाशित हुई। इसमें दस कार्ड होते हैं। कार्ड पर लाल या नीली रंग की स्याही के धब्बे कई शेड और आकार में होते हैं। प्रारम्भ में रौरशक ने बहुत से नक्शे बनाये, व्यक्तियों पर उनका प्रयोग किया, और प्रयोग करने के बाद व्यक्तित्व परीक्षा (*Personality Test*)के लिए उनमें से १० उपयुक्त कार्ड चुन लिये। इसीलिये यह परीक्षा आकस्मिक नहीं मानी जाती। बहुत सोंच विचार और प्रयोग के बाद निश्चित की गई है यह समझा जाता है।

रौरशक-परीक्षा लेते समय परीक्षक (*E*) प्रयोग-पात्र को आराम से निसंकोच बैठने का आदेश करता है और फिर बारी बारी से सब कार्ड एक-एक करके उसे दिखलाता है। प्रयोग-प्रात्र कार्ड को ध्यान से देखता है। कभी तो प्रतिक्रिया की झड़ी लगा देता है। एक ही चित्र में उसे बहुत सी बातें समझ पड़ती हैं। और कभी प्रतिक्रिया नहीं करता। १० कार्ड पर साधारण वर्ग के व्यक्ति की कुल प्रतिक्रिया २०-२४ होती हैं; असाधारण व्यक्ति या तो इससे कम प्रतिक्रिया देगा या बहुत अधिक। प्रतिक्रिया-समय (*Reaction time*) और प्रतिक्रिया-विषय (*Reaction-*

word) का विवरण ले लिया जाता है। किसी प्रकार का निर्देशन नहीं दिया जाता। प्रयोग-पात्र कार्ड को किसी भी कोण से देखकर प्रतिक्रिया दे सकता है। उसने किस कोण से देखकर प्रतिक्रिया किया है यह विवरण के इन संकेतों $\wedge > \vee <$ से पता लगता है। जब प्रयोग-पात्र एक कार्ड पर प्रतिक्रिया दे लेता है तब परीक्षक पूछता है कि अमुक वस्तु—पशु पहाड़ आदमी—उसने क्यों और कैसे देखा। प्रयोग-पात्र (*S*) इसका कारण कभी आकृति (*F*) कभी रंग (*C*) और कभी गति (*M*) बतलाता है। विवेचना इस बात पर निर्भर करती है कि वह आकृति (*F*) रग (*C*) तथा गति (*M*) किससे प्रभावित हुआ है, इसपर नही कि उसने किस वस्तु का नाम लिया है। उदाहरणार्थ, प्रतिक्रिया मे प्रयोग पात्र ने तितली कहा। परीक्षक के सम्मुख प्रश्न उठता है कि किस भाव से प्रेरित होकर प्रयोग-पात्र ने तितली कहा है। इसका कारण आकृति है, रंग है या गति? परीक्षक परीक्षा लेते समय बहुत सजग रहता है। प्रयोग-पात्र के मुख के भाव पर सतर्कता से विचार करता है, क्योंकि मुख का भाव आन्तरिक मन का प्रतीक है।

रौरशक-परीक्षा मे प्रयोग-पात्र कभी पूर्णाङ्क प्रतिक्रिया (*Whole response*) देता है और कभी एकागी (*Detailed response*)। जब प्रयोग-पात्र धब्बे के पूरे आकार मे एक वस्तु का आभास पाता है तब यह प्रतिक्रिया पूर्णाङ्क हुई। इसका सूचक विवरण मे '*W*' है। पूर्णांक प्रतिक्रिया अधिक प्रतिशत मे होने का अर्थ है कि उस व्यक्ति विशेष मे कल्पना और सूक्ष्म विचार (*abstract forms of thinking*) की शक्ति अधिक है। यह ऊँचे दर्जे की प्रतिक्रिया मानी जाती है। साधारण बुद्धि का व्यक्ति २५ से ३० प्रतिशत पूर्णांक प्रतिक्रियाएँ देता है; मनोविक्षेप और मानसिक दोष के रोगी की पूर्णांक प्रतिक्रियाएँ (*Whole response*) कम होती हैं। यह इस बात का सूचक (*F–*) है कि प्रयोग-पात्र मे गूढ़ बात पर विचार और आलोचना करने की शक्ति कम है।

जब प्रयोग-पात्र की प्रतिक्रिया लक्ष्य के किसी भाग विशेष पर विस्तार से होती है तब यह प्रतिक्रिया एकांगी (*Detailed response*) कही जाती है और विवरण में इसका सूचक '*D*' होता है। प्रतिक्रियाएँ अधिकतर एकांगी होती हैं। एकांगी प्रतिक्रियाएँ कम होने का अर्थ है कि उस व्यक्ति विशेष में व्यवस्था की शक्ति (*Organisal capacity*) नहीं है। जब किसी व्यक्ति की एकांगी प्रतिक्रियाएँ ४० प्रतिशत से भी कम होती हैं तब इसका अर्थ होता है कि उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं है। ६० या ७० प्रतिशत से अधिक एकांगी प्रतिक्रियाएँ होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति विशेष उद्वेग (*Emotional disturbance*) से त्रस्त है और उसकी बुद्धि सीमित (*Limited Intelligence*) है।

एकांगी प्रतिक्रियाएँ (*Detailed response*) दो प्रकार की होती हैं : साधारण और विलक्षण। साधारण का '*D*' और विलक्षण एकांगी प्रतिक्रिया का सूचक विवरण में '*Dr*' होता है। कल्पनाग्रह (*Obsession*) का रोगी विशेष कर विलक्षण प्रतिक्रियाएँ देता है क्योंकि वह छोटी छोटी बातों पर भी सजग रहता है। विलक्षण प्रतिक्रिया १० प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये। इससे अधिक होना असाधारण व्यक्तित्व का चिन्ह है।

विवरण में दिया हुआ '*M*' अज्ञात मन की इच्छाओं का सूचक है। जब प्रयोग-पात्र को कार्ड में चलता हुआ पशु या उड़ती हुई चिड़िया का आभास मिलता है तब इसका अर्थ है कि उसके आभ्यन्तरिक क्षेत्र में संघर्ष चल रहा है। वह प्रौढ़ होते मानसिक प्रौढ़ता नहीं प्राप्त कर सका है और बचपन के ही भाव-कल्पना के सतह (*Infantile level of phantasy*) पर है। स्वभाव में अन्तर्मुखी (*Introvert*) है। बाह्य विषय वस्तुओं में रुचि नहीं लेता। औसत रूप से साधारण व्यक्तियों की गमन प्रतिक्रियाएँ (*M*) *O* से १५ प्रतिशत होती हैं। परन्तु मनोविक्षेप में विशेष कर असामयिक मनोह्रास (*Dementia praecox*) का रोगी गमन-प्रतिक्रियाएँ अधिक देता है।

रंग से अधिक प्रभावित होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति विशेष संवेगात्मक स्वभाव का है; उसका जीवन विचारयुक्त नहीं है। संवेग से प्रेरित है। यह बात मनोविक्षेप में विशेषरूपसे होती है। साधारण व्यक्तियों की प्रतिक्रिया में कभी आकार का रंग (*FC*) पर और कभी रंग का आकार (*CF*) पर प्रधानता रहती है। जब आकार की प्रधानता रंग पर (*FC*) रहती है तब इसका तात्पर्य है कि वह व्यक्ति विशेष संवेग पर हुकूमत रखता है—भाव की धारा में नहीं बहता। वह व्यवहार कुशल है, विचारयुक्त है, संवेग की दृष्टि से प्रौढ़ है और उसका जीवन व्यवस्थित और संतुलित है। '*CF*' का अर्थ है कि उस व्यक्ति विशेष ने संवेग और विचारयुक्त भाव में समन्वय लाने का सब प्रकार से प्रयत्न किया पर वह असफल रहा। विचारशक्ति की हुकूमत संवेग पर न हो पायी, और वह व्यक्ति भावोन्मेष में बह जाता। इस प्रकार के व्यक्ति पूर्णरूप से व्यंजित (*Suggestible*) होते हैं। गमन और रंग की प्रतिक्रियाओं (*M.C.*) में जो अनुपात है उससे यह पता लगता है कि वह व्यक्ति विशेष अन्तर्मुखी है या बहिर्मुखी।

रौरशक परीक्षा से किसी व्यक्ति विशेष के संवेगात्मक अवस्था का ही नहीं, बुद्धि-मात्रा का भी अनुमान लगाया जा सकता है। जब बुद्धि-मात्रा औसत दर्जे से तीव्र होती है तब पूर्णांक प्रतिक्रियाएँ (*Whole response*) ३० प्रतिशत से भी अधिक होती हैं; बुद्धि मंद रहने पर पूर्णांक प्रतिक्रियाएँ कम रहती हैं और जो कुछ रहती हैं उनमें भी किसी प्रकार का क्रम और व्यवस्था नहीं मिलती।

इस प्रकार रौरशक या मसी अंक परीक्षा में पृथक्-पृथक् विवरण मिलता है। कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ अधिकतर पूर्णांक *(W)* होती हैं, कुछ की आंशिक, कुछ में रंग *(C)* की प्रधानता रहती है, कुछ में आकार *(F)* की तथा कुछ में गमन *(M)* की। प्रतिक्रिया की ठीक-ठीक विवेचना हो जाने पर प्रयोग-पात्र के व्यक्तित्व की सब विशेषताओं का पता लग जाता

है। विशेषकर असाधारण व्यक्तिके व्यक्तित्व के बारे में वृहत् रूप में जानकारी करने के लिये यह परीक्षा बहुत उपयुक्त है। मनोविक्षेप की अवस्था में ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और संवेगात्मक क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसकी सूचना रौरशक परीक्षा द्वारा ठीक-ठीक मिल जाती है। असाधारण अवस्था में प्रतिक्रियाएँ जटिल और विलक्षण होती हैं। बेक ने भी इस परीक्षा का प्रयोग सब वर्ग के व्यक्तियों पर किया। इनमें से कुछ तीव्र बुद्धि के थे, कुछ अल्प बुद्धि, कुछ उदासीन मन, कुछ प्रसन्न-चित्त, कुछ का मानसिक ह्रास हुआ था और कुछ मनोदौर्बल्य से त्रस्त थे। सब व्यक्तियों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रही क्योंकि संवेगात्मक अवस्था अस्थिर रहने पर तो प्रतिक्रिया में विशेषरूप से व्यक्तिगत भाव-कल्पना का आरोपण मिलता है।

संक्षेप में 'चित्र कथानक' (*T. A. T.*) और रौरशक या मसी अंक परीक्षा (*Ink Blot Tests*) दोनों का प्रयोजन व्यक्तित्व विशेषताओं (*personality traits*) का अध्ययन कर रोगीके मन की वास्तविक स्थिति का पता लगाना है। इनमें अंतर केवल यह है कि पहले में प्रतिक्रिया के लिये चित्र दिये जाते हैं और दूसरे में रंग रंग के स्याही के धब्बे।

डा० मरे ने 'चित्र-कथानक परीक्षा' के अतिरिक्त व्यक्तित्व-विशेषता मापने के लिये 'कल्पनात्मक सर्जन परीक्षा, (*Imaginal Productivity Test*) का भी अन्वेषण किया। इसमें कई रंग से बने धब्बे कार्ड पर दिये

कल्पनात्मक सर्जन परीक्षा

जाते हैं। रोगी की प्रतिक्रिया उसके भाव-कल्पना (*phantasies*) में रंगी मिलती है। भाव-कल्पना जितनी समृद्ध और भावुक (*colourful*) होगी, रोगी की रचना उतनी ही गूढ़ और रोचक होगी। प्रतिक्रियाएँ भाव-कल्पना के अनुसार होती हैं और भाव-कल्पना अज्ञात मन की इच्छाओं पर निर्भर करती है।

संगीत मग्नता परीक्षा (*A Musical Reverie Test*) में भाव-

कल्पनाओं को उत्तेजित करने के लिये फोनोग्राफ का रेकार्ड बजाया जाता है। रोगी के मन में रेकार्ड सुनकर जो कुछ भाव-कल्पना उठती है उसे वर्णन करने के लिये उससे आग्रह किया जाता है। फिर वह जो कुछ कहता है उसका विश्लेषण किया जाता है। इसमे उत्तेजन के लिये चित्र के स्थान पर संगीत होता है।

संगीत मग्नता परीक्षा

नाट्य प्रयोग परीक्षा (*Dramatic Production Test*) में रोगी को अनेक रंग और प्रकार के खेल के सामान दिये जाते है और यह परामर्श दिया जाता है कि वह उन्हे अपनी इच्छा से सजावे। रोगी अपनी भाव-कल्पना के अनुकूल उन्हे सजाता है। जो कुछ नाट्य-प्रदर्शन वह करता है उसके आधार पर उसके मन के भाव का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। यह बात बालकों के खेल में भी मिलती है। जिस प्रकार बालक अपनी वृत्ति का प्रदर्शन खिलौनों के सजावट में करता है और जीवन का कल्पित खेल खेलता है उसी प्रकार रोगी का बनाया नाटकीय दृश्य (*dramatic scene*) उसके आभ्यन्तरिक जीवन (*Subjective life*) की भावनाओं का प्रदर्शन है।

नाट्य प्रयोग परीक्षा

मानव के व्यक्तिव्य को पूर्ण रूप से समझने के लिये यद्यपि ये परीक्षाएँ सहायक है और इनके आधार पर रोग का निदान किया जा सकता है फिर भी निदान की दृष्टि से ये पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं। प्रयोग-कर्ता की विवेचना (*interpretation*) बहुत कुछ उसके व्यक्तिगत अनुभव और स्वभाव के आधार पर हो जाती है। जब वह रोगीके व्यक्तित्व, भावना-ग्रन्थि (*Complexes*) और भाव-कल्पना (*phantasies*) को अपने अनुभवों में रंगकर देखता है और तौलता है तब वह रोगी का वास्तविक स्वरूप नहीं देख पाता।

उपर्युक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त व्यक्तित्व विशेषताओं को जानने के लिये

कुछ संवेगात्मक स्थिरता परीक्षाएँ (*Emotional Stability Tests*) भी हैं। ये परीक्षाएँ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ के व्यक्तिगत विवरण-पत्र का परिवर्तित रूप हैं। १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा वुडवर्थ ने अपनी डेटाशीट ऐसे सैनिकोंको चुनने के लिये बनाई जो संवेग की दृष्टि से अस्थिर नहीं थे। पहले उन्होंने प्रश्नों की एक लंबी सूची तैयार की। बाद में सूची में से उन प्रश्नों को चुना जिनका उत्तर स्थिर चित्त व्यक्तियों ने ठीक दिया और अस्थिर चित्त व्यक्तियों ने गलत। चुने हुए प्रश्नों में से जो व्यक्ति २० या इससे अधिक प्रश्नों का उत्तर गलत देता वह संवेगात्मक दृष्टि से अयोग्य समझकर सेना से हटा दिया जाता; ३० या इससे भी अधिक प्रश्नों का उत्तर गलत देने पर वह बिल्कुल ही निकम्मा और असाधारण समझा जाता।

संवेगात्मक स्थिरता परीक्षा

आरम्भमें यह परीक्षा सैनिकों तक सीमित थी। आगे चलकर इस पर और खोज हुई। नये प्रामाणिक माप बनें और इनका प्रयोग असाधारण व्यक्तित्व की जांच और एक वर्गके मानसिक रोग को दूसरे वर्ग के मानसिक रोग से पृथक् करने के लिए किया जाने लगा। संवेगात्मक स्थिरता परीक्षा में थर्सटोन की मनोदौर्बल्य सूची *(Thurstone Neurotic Inventory)*, बर्नर्यूटर की व्यक्तित्व सूची *(Bernreuter Personality Inventory)*, लेआर्ड की व्यक्तित्व सूची *(Laird Personality Inventory)* और हम्वर्डस्वर्थ का स्वभाव-माप *(Humwordsworth Temperments cale)* उल्लेखनीय हैं।

१९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ने पर तो इस प्रकार की परीक्षाएँ संवेग की स्थिरता जांचने के लिये अनिवार्य हो गयीं। पूर्णरूप से ये परीक्षाएँ अभी वैज्ञानिक सिद्ध नहीं हुई हैं फिर भी आरमी अलफा परीक्षा की तरह, जो सैनिकों की बुद्धि-परीक्षा के लिये नियत है, कुछ परीक्षाओं का वैज्ञानिक आधार पर अन्वेषण किया जा सकता है जो किसी व्यक्ति के

संवेगात्मक स्थिरता का ठीक-ठीक पता लगा सकें।

उपचार-कार्य (*Process of treatment*) में निदान, परिचय और मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के पश्चात् अबाध मनः आयोजन (*Free Association*) का प्रश्न आता है। अबाध मनः आयोजन विधि के प्रयोग में

अबाध मनः आयोजन

दो बातें विशेषरूप से ध्यान में रखनी हैं : एक, रोगी को पूर्ण विश्राम की अवस्था (*relaxed condition*) में रखा जाय; दो, रोगी को पूरी स्वतंत्रता हो कि वह अपने विचारों को—उचित हो या अनुचित, संबद्ध हो या असंबद्ध, आवश्यक हो या अनावश्यक—कहे और घटनाओं का वर्णन करे। जिस प्रकार रक्त की परीक्षा लेकर डॉक्टर यह निश्चित करता है कि ज्वर किस प्रकार का है उसी प्रकार रोगी जो कुछ कहता है उसके आधार पर मानसिक रोग का पता लगाया जाता है।

अबाध मनः आयोजन (*Free Association*) की विधि फ्रायड द्वारा प्रतिपादित की गयी है। युंग की शब्द-संधान-विधि (*Word Association Test*) इससे कुछ भिन्न है; पर यह अबाध मनः आयोजन की ही विधि का परिवर्तित रूप है। दोनों विधि में अंतर यह है कि एक में मन के भावों का प्रदर्शन बिना किसी उत्तेजन के होता है, और दूसरे में शब्दों की एक लंबी सूची एक एक शब्द करके उत्तेजन के रूप में दी जाती है। मनः समीक्षक रोगी की प्रतिक्रिया के बल पर रोगी के मन के भाव को समझने का प्रयत्न करता है।

रोगी का सफलता से उपचार करने के लिये मनः समीक्षक का व्यक्तित्व (*Personality*) प्रभावशाली होना चाहिये। व्यक्तित्व व्यापक शब्द है।

मनः समीक्षक की विशेषताएँ

इसमें शरीर का आकार, बुद्धि, स्वभाव, सामाजिकता का भाव सभी निहित हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के बारे में निर्णय देने के पहले इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है। मनः समीक्षक का डीलडौल अच्छा होने

पर रोगी प्रभावित होता है: वह समझता है कि वह कुछ है और कुछ कर सकता है। बुद्धि तीव्र होने पर ही निदान ठीक होता है। जब तक तीव्र निरीक्षण शक्ति (*Observatory power*), पैनी दृष्टि (*farsightedness*) और समझने-बूझने और विचारने की योग्यता नहीं होगी तब तक वह कुशलता से उपचार नहीं कर सकता। उसका स्वभाव सरल हो, सहानुभूति तथा दया का भाव रखे। तभी वह रोगी का विश्वास-पात्र बन उसके आभ्यन्तरिक समस्याओं को समझ सकेगा। वह व्यवहार कुशल हो, उसमें आदान-प्रदान का भाव रहे। कल्पनालोक में विचरण करनेवाला मनः समीक्षक सफलता से रोगी का विश्लेषण नहीं कर सकता। व्यावहारिक होने के लिये मनः समीक्षक को बाह्य वस्तुओं में रुचि लेना आवश्यक है।

मानसिक उपचार विधि

'थेरपी' शब्द का प्रयोग वेबर्स न्यू इन्टरनैशनल डिक्शनरी मे 'थेरेप्यूटिक्स' (*Therapeutics*) के लिये हुआ है। 'थेरेप्यूटिक्स' औषधि-शास्त्र (*Medical Science*) का वह भाग है जो रोगके कारण और उपचार से संबंध रखता है। यही परिभाषा वारेन के शब्द-कोष में भी मिलती है। रोग वह अवस्था है जिसमे मन या शरीर या दोनों की क्रियाओं में किसी प्रकार की गड़बड़ी (*derangement*) हो जाती है। 'मानसिक उपचार' (*Psychotherapy*) का संबंध केवल मानसिक विकार से उत्पन्न रोग से है। मानसिक उपचार में दो धाराएँ हैं: एक के अनुसार यह असाधारण अवस्था (*abnormal condition*) से साधारण अवस्था (*normal condition*) पर पहुँचना है; दूसरे के अनुसार साधारण से असाधारण पर। दोनों प्रकार के अध्ययन मानसिक उपचार (*Psychotherapy*) की दृष्टि से सहायक हैं। साधारण व्यक्तियों की रुचि, आदान-प्रदान, व्यवहार, क्रिया-व्यापार को समझना वैसा ही आवश्यक है जैसा असाधारण व्यक्तियों का। साधारण अवस्था को समझे बिना असाधारण व्यक्ति के मन की स्थिति, संघर्ष का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

मानसिक उपचार के संबंध में दो बातें स्मरण रखने की हैं : मनः समीक्षक और रोगी में उचित संबंध (*Rappor*) थापित करना और शरीर संबंधी दोष-गड़बड़ी (*organic involvements*) का पूरा ज्ञान रखना।

'रैपर्ट' (*Rapport*) शब्द का प्रयोग मनोविश्लेषण में एक विशेष अर्थ में किया गया है। यह रोगी और मनः समीक्षक के बीच सुगठित संबंध कायम करना है। इसका प्रभाव उपचार पर बहुत पड़ता है। आत्मीयता का संबंध स्थापित होने से रोगी का विश्वास मनः समीक्षक में जम जाता है और मनः समीक्षक के मन में रोगी के प्रति सहानुभूति का भाव उठता है। अन्यथा, अभावात्मक संक्रमण (*Negative Transference*) की कठिनाई पड़ती है। रोगी के मन में मनःसमीक्षक के प्रति घृणा का भाव उठता है। मनः समीक्षक के लिये मन के अतिरिक्त शरीर का भी पूरा ज्ञान होना अनिवार्य है क्योंकि शरीर अस्वस्थ होने पर प्रायः मानसिक रोग हो जाता है।

मानसिक उपचार की प्रमुख विधियाँ—आमर्शन (*Suggestion*) पुनः शिक्षण (*Re-education*), विश्लेषण (*Analysis*) और सम्मोहन (*Hypnotism*) हैं। आमर्शन बहुत प्राचीन विधि है। इसका प्रयोग मनोविज्ञान के इतिहास में प्रारम्भ से ही मिलता है। धार्मिक कृत्य, जादू और अलौकिक मानवी प्रभाव (*animal-magnetism*) इसका प्रमाण हैं। कुछ व्यक्तियों में आमर्शन देने की जन्मदत्त अद्भुत शक्ति होती है जिससे वे दूसरे को अपने प्रभुत्व में कर लेते हैं। यह पर-आमर्शन (*Hetro-Suggestion*) है। इसमें एक व्यक्ति दूसरे को सलाह देता है। दूसरा व्यक्ति पहले के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसकी सलाह मान लेता है। जो व्यक्ति व्यंजित (*Suggestive*) हैं उन पर आमर्शन का प्रयोग सफलता से होता है। रोगी को प्रभावित करने के लिये निर्देशक का बौद्धिक

आमर्शन

और नैतिक वि[illegible]ास आवश्यक है। आत्म-आमर्शन (*Auto-Suggestion*) में मनुष्य अ[illegible]शक्ति से अपने को अपने वश में रखता है। इसके लिये आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास की अधिक आवश्यकता पड़ती है।

आमर्शन सब रोग में लाभप्रद नहीं। विशेषकर प्रलाप की अवस्था में रोगी के लिये आमर्शन निरा हास्यास्पद है। इसका प्रभाव स्थायी भी नहीं होता। इससे रोगी की भावना-ग्रन्थियों का पता नहीं लगता। वे अछूती रह जाती हैं। रोगी पराश्रयी हो जाता है और इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। उसकी निजी विशेषताएँ—इच्छा, कल्पनाशक्ति, विचार—शेष नहीं रह जातीं।

फिर भी साधारण मानसिक दुर्बलता में समय पर उचित सलाह मिलने से लाभ होता है।

पुनः शिक्षण

पुनः शिक्षण (*Re-education*) विधि की नींव फ्रैन्ज़ और वेल्स ने डाली थी। इसमें रोगी के प्रकृत इच्छाओं को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे वह निम्न कोटि और निरी प्रकृत इच्छाओं से अपने को मुक्त कर ले। अपनी मानसिक शक्ति का व्यय प्रकृत इच्छाओं के समाधान में न कर, सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक कार्यों में करे। इसीलिये असाधारण व्यक्तियों के लिये पुनः शिक्षण उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार साधारण व्यक्तियों के लिये शिक्षण है। फ्रैन्ज़ के अनुसार पुनः शिक्षण मिलने से रोगी दोष भरी आदतों को छोड़ देता है। उचित प्रतिक्रियाएँ करने लगता है। पर प्रश्न यह उठता है कि रोगी की प्रकृत इच्छा, भावना-ग्रन्थि के स्वरूप का पता किस प्रकार लगाया जाय। बिना भावना-ग्रन्थि का स्वभाव जाने उन्नयन (*Sublimation*) का प्रयत्न नहीं किया जा सकता।

पुनः शिक्षण विधि का प्रयोग सफलता से होने के लिये यह आवश्यक है कि रोगी में अपनी असाधारण अवस्था पहचानने की चेतना हो—यह कि

उसका व्यवहार असाधारण है। साथ ही, स्वस्थ होने की उसमें तीव्र आकांक्षा हो और उसे यह विश्वास हो कि वह स्वस्थ हो जायगा। यह भी कि चिकित्सक का व्यवहार रोगी के प्रति सरल तथा सहानुभूति पूर्ण हो।

विश्लेषण (*Analysis*) की विधि मानसिक रोग की चिकित्सा के लिये सबसे उपयोगी है। विश्लेषण में चिकित्सक को रोगी के मन की स्थिति समझने के लिये रोगी के वातावरण को ऐसा रखना है कि वह अपने विचारों को मुक्त भाव से व्यक्त कर सके। वातावरण सदैव मित्रता का रखना है। इससे रोध (*resistance*) कम होगा और विश्वास उत्पन्न होगा।

विश्लेषण

आत्मीयता का भाव उत्पन्न करने से भय और चिंता भूल कर रोगी मन की बात कहेगा। चिकित्सक को रोगी के मन में यह भाव भी उत्पन्न करना है कि दुर्बलता—प्रकृत इच्छा का शिकार होना—जीवन का आवश्यक अंग है।

विश्लेषण का रोगी पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। चिकित्सक रोगी की दुर्बलता को विश्लेषण द्वारा समझ कर रोगी को प्रत्यक्ष (*direct*) या परोक्ष (*indirect*) रूप से उसकी भावना-ग्रन्थि के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। यदि वह अपने प्रयत्न में सफल रहा और रोगी अपनी दुर्बलता मान गया तो आपोआप रोगी की अज्ञात मन की गुत्थियाँ सुलझ जायेंगी। यह प्रामाणिक है। वास्तव में रोग निवारण की कुंजी अज्ञात मन की इच्छाओं, ग्रन्थियों तथा संवेगों का ठीक ठीक ज्ञान होना है। गुत्थिओं को समझने पर चिकित्सक की सहायता से अनजाने में रोगी अपने काम शक्ति (*Libido*) को, जो विक्षिप्तावस्था के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति में असाधारण रूप से स्थिर-लिप्त हो गयी है, उस विषय-वस्तु से मुक्त कर दूसरे विषय वस्तु में, जो व्यावहारिक दृष्टि से अधिक मान्य है, लगाता है। फ्रायड के पारिभाषिक शब्द में कामशक्ति (*Libido*) के उन्नयन पद्धति को 'सब्लिमेशन' (*Sublimation*) कहते हैं। यह मानव जाति की विशेषता है। पशुवर्ग में यह विशेषता नहीं मिलती।

जब तक कामशक्ति (*Libido*) के उचित विकास उन्नयन-परिमार्जन की ओर ध्यान नहीं दिया जायगा, रोगी स्वस्थ नहीं हो सकता। इससे कामशक्ति में गति आ जाती है और एक बार गति में आने पर यह किसी एक भाव-वस्तु से अस्वाभाविक रूप से लिप्त नहीं रह जाती।

युंग के अनुसार 'लिबिडो' का अर्थ कामशक्ति नहीं बल्कि मानसिक शक्ति है! जब रोगी की मानसिक अवस्था का विश्लेषण हो जाता है तब उसकी मानसिक शक्ति गति में आ जाती है और इसका प्रवाह सब दिशा में सब प्रकृत वृत्ति की तुष्टि में समान रूप से होता है।

एक इच्छा की तृप्ति के लिये अधिक मानसिक शक्ति व्यय करने का अर्थ है दूसरी इच्छा अतृप्त रह जावेगी क्योंकि मानसिक शक्ति नियत परिमाण में होती है। अनुपात में प्रवाह होने पर ही व्यक्तित्व सामञ्जस्य रहता है। जब एक दिशा में एक वस्तु पर अनुचित परिमाण में शक्ति केन्द्रित हो जाती है तब विक्षिप्तावस्था आती है। रोगी को स्वस्थ करने के लिये 'लिबिडो' को गति में लाना है इस पर सभी मनोवैज्ञानिक सहमत हैं। 'लिबिडो' की धारणा पर मतभेद हो सकता है। चिकित्सक का उन्नयन-संबंधी प्रयत्न बहुत कुछ पुनः शिक्षण (*Re-education*) की विधि की तरह है।

विश्लेषण (*Analysis*) में कठिनाई पड़ती है यह कि रोगी वास्तविक इच्छाओं को व्यक्त करने के लिये किसी प्रकार तैयार नहीं होता। जान और अनजान किसी तरह से अपनी दुर्बलताओं को प्रकट करने से हिचकता है। इदम् (*Id*) के दब जाने से और नैतिक मन (*Super-ego*) के प्रबल होने से रोध गहरा होता है। अज्ञात मन की इच्छाएँ किसी प्रकार भी प्रकट नहीं हो पातीं। यदि प्रकट हुई भी तो अन्य रूप में—वास्तविक रूप में नहीं। चिकित्सक का सब प्रयास विफल जाता है। जब नैतिक मन (*Super-ego*) कम प्रबल होता है तब रोगी अपनी

दुर्बलताओं को अनजाने में व्यक्त कर देता है। इस स्थिति में विश्लेषण का प्रयास सफल होता है।

विश्लेषण में प्रायः एक नये प्रकार की समस्या उठती है। यह समस्या मनोविश्लेषण के परिभाषिक शब्दों में संक्रमण (*Transference*)* की समस्या है जिस पर विस्तार से पहले प्रकाश डाला जा चुका है। प्रतीकीकरण (*Symbolization*)[] की भी समस्या विश्लेषण में उठती है।

---

* पन्ना : ९४

[] **प्रतीकी करण (Symbolization) का मूल्य विश्लेषण में पहले पहल फ्रायड ने पहचाना। इसके पहले मनोवैज्ञानिकों को यह नहीं मालूम था कि मनुष्य अपने अज्ञात मन की इच्छाओं के प्रदर्शन के लिये अपने व्यवहार-आचरण में प्रतीक (Symbol) का प्रयोग करता है और यह कि प्रतीक भाव-वस्तु तथा इच्छा का द्योतक होता है। फ्रायड के अनुसार यह इच्छा सदैव काम-संबंधी होती है। परन्तु इस पर समाज का प्रतिबंध है। इस कारण जब भी अज्ञात मन इस वृत्ति से संबंधित वर्जित इच्छाओं को प्रकृत रूप में प्रकट करने का प्रयास करता है तब ज्ञात मन में रोध होता है। फलतः प्रतीक के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। प्रतीक का प्रयोग स्वप्न कला धर्म और असाधारण व्यवहार सबमें होता है। प्रतीक अनेक होते हैं; पर वे वस्तुएँ जिनका हमें प्रतीक मिलता है केवल पाँच या छः हैं। माता-पिता, जन्म, काम-अंग, काम-क्रिया के प्रतीक अधिकतर मिलते हैं। इसकी पुष्टि स्वप्न की विवेचना और रोगी का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर हो जाता है। हर एक प्रतीक का अर्थ स्थिर होता है। प्रतीकीकरण (Symbolisation) के सहायता से विश्लेषण का कार्य सरल हो जाता है। यह ज्ञान रहने पर कि जल 'जन्म' का प्रतीक है, सीढ़ी चढ़ना-उतरना 'काम' का प्रतीक है पहले ही परिचय में रोगी के मन की स्थिति का पता लग जाता है। स्वप्न में बार बार राजा-रानी देखने का अर्थ है कि वह मातृ-पितृ काम-ग्रन्थि**

मानसिक उपचार की सम्मोहन विधि में एक व्यक्ति अपने दृढ़ इच्छा-बल से दूसरे व्यक्ति को अचेत कर अपने वश में कर लेता है। फिर उसे स्वस्थ करने के लिये अचेतनावस्था में निर्देश देता है कि वह स्वस्थ हो जाय, या उसे ऐसी स्थिति में रखता है कि वह स्वयं अपने गुप्त संवेगों से संबंधित मनोभाव को प्रकट कर दे। अचेतनावस्था में ज्ञात मन के निष्प्रभ होने से अज्ञात मन अधिक क्रियमाण हो जाता है। सम्मोहक रोगी के अज्ञात मन का प्रदर्शन सम्मोहित अवस्था में देखकर उसके मन की वास्तविक स्थिति समझ लेता है और तद्नुकूल आदेश देता है। आपोआप अचेतनावस्था में अज्ञात मन का बवाल निकाल देने से रोगी चेत में आने पर हल्का महसूस करता है।

सम्मोहन

शारको के अनुसार सम्मोहन अस्वाभाविक रूप से उत्पन्न की हुई विक्षिप्तावस्था (*artificially induced neurosis*) है। बर्नहम के मत से यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें अधिक से अधिक निर्देश दिया जा

(Oedipus Complex) से ग्रस्त है। इस प्रकार रोगी की भावना-ग्रन्थि को समझा जा सकता है।

फ्रायड के प्रतीकीकरण के सिद्धान्त का खंडन हुआ। हर एक प्रतीक का एक स्थिर अर्थ संभव नहीं। परिस्थिति और स्वभाव के आधार पर ही अर्थ लगाया जा सकता है। एक ही प्रतीक का अर्थ दो व्यक्तियोंके लिए भिन्न-भिन्न होगा। संभव है कि एक ही प्रतीक एक ही व्यक्ति के लिए दो स्थिति में भिन्न २ भाव-वस्तु का प्रतिनिधित्व करता हो। इसी कारण विश्लेषण में कठिनाई पड़ती है। प्रतीक का अर्थ समझना आसान नहीं। इसके लिये विशेषज्ञ की आवश्यकता है। हाँ, प्रतिक्रिया में प्रतीक की प्रचुरता देखकर मन की जटिलता का आभास अवश्य हो जाता है। यह भावना-ग्रन्थि की मूक भाषा है।

सकता है। फ्रायड के अनुसार सम्मोहन में सम्मोहित व्यक्ति की कामशक्ति (*Libido*) सम्मोहक की ओर लग जाती है। सम्मोहक रोगी का प्रेम-पात्र बनता है। किन्तु यह बात आवश्यक नहीं है। केवल इतना संभव है कि रोगी की कामशक्ति अल्प-काल के लिये अन्य विषयों से खिचकर सम्मोहक या चिकित्सक पर केन्द्रित हो जाय।

हर एक व्यक्ति को सम्मोहित करना संभव नहीं है। केवल दुर्बल इच्छा का व्यक्ति, जिसमें अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण नहीं है, सम्मोहित किया जा सकता है। यह भी कि हर एक रोग में यह सफल नहीं होता। मनोविक्षेप के रोगी पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

मानसिक रोग के उपयुक्त उपचार के लिये पेनिनसिलवेनिया में डा० लाइट्नर विट्मर की अध्यक्षता में १८९६ में पहले पहल मनोविज्ञानशाला (*Clinic*) खुली। इस मनोविज्ञानशाला का संबंध अधिकतर पाठशालाओं से था और इसका प्रमुख उद्देश्य बालकों को सुधारना था। इसके अतिरिक्त रोगी के वातावरण का अध्ययन करके उनके व्यक्तित्व में सामञ्जस्य लाने के लिये सुझाव भी देना था। पिछले पचास वर्षों में इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ खुलीं। स्वास्थ्य के लिये ये अनिवार्य्य हैं।

साधारण तौर से मानसिक रोग को दो वर्ग में बाँटा जा सकता है: एक, जिसमें साधारण आक्रमण होता है; दो, जिसमें रोगी प्रलाप की अवस्था पर पहुँच जाता है। पहले वर्ग के रोगी को स्थान (*space*) समय (*time*) और अपने व्यक्तित्व (*personal identity*) का ज्ञान रहता है, उसका व्यवहार एकरूप रहता है, किसी विषय वस्तु को परखने और समझने की बुद्धि उसमें रहती है, अपनी भूल समझता है, अपने विचार और आदत को आधार रहित और अनावश्यक मानता है, और वह बाह्य जगत् से संबंध रखता है। दूसरे वर्गके रोगी में सोचने-समझने और विचार करने की बुद्धि नहीं रह जाती, व्यवहार और संवेग सदैव बदलता रहता है, मन की समस्त शक्ति और भावना-ग्रंथियाँ इस प्रकार स्वतंत्र होकर

कार्य करती हैं कि व्यक्तित्व में पूर्णतः विच्छेद हो जाता है, यह भी ज्ञान नहीं रहता "मैं कौन हूँ और कहाँ बैठा हूँ, दिन है या रात्रि"। स्नायु (*Neurasthenia*), औत्सुक्य (*Anxiety*), भीति (*Phobia*), कल्पनाग्रह (*Obsession*), अनियंत्रित अभ्यास (*Compulsion*) और हिस्टीरिया पहले वर्ग के रोग हैं; स्थिर-भ्रमरोग (*Paranoia*), असामयिक मनोह्रास (*Dementia Praecox*), और उत्साह-विषादमय उन्माद (*Manic Deprcssive Insanity*) दूसरे वर्ग के।

स्नायु रोग

स्नायु रोग (*Neurasthenia*) का प्रमुख लक्षण थकान है। थकान बहुत तीव्र होती है और प्रातः काल भी बनी रहती है। विश्राम करने पर भी थकान कम नहीं होती। आँखों में घुटन, भारीपन, धुंध (*blurred vision*) और दुखन रहती है। सिर में भयंकर दर्द बना रहता है। शरीर के हर एक भाग में विशेषकर पीठ में दर्द अधिक होता है और बहुत कुछ गठिया जैसा जोड़ों (*joints*) पर होता है। इस रोग में कोष्ठबद्धता (*Constipation*) भी हो जाती है। भूख कम लगती है और भोजन में कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर ही रोगी की रुचि जाती है। अनिद्रा की भी शिकायत रहती है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। मन अस्थिर रहता है और संवेग हर क्षण बदलता रहता है। प्रकाश और कोलाहल को तो वह सहन ही नहीं कर सकता और उसे हर समय स्वास्थ्य की चिंता बनी रहती है।

शारीरिक लक्षण अधिक होने से प्रायः स्नायु रोग शारीरिक रोग समझा जाता है। किन्तु रोग का कारण मानसिक विकार होने से डॉक्टर की सब औषधि निष्फल जाती है।

औत्सुक्य विकलता (*Anxiety neurosis*) में भी बहुतकर शारीरिक रोग के लक्षण मिलते हैं, जैसे, नाड़ी और हृदय की गति तीव्र होना, रक्त दबाव, ग्रन्थि-स्राव (*glandular secretion*) का वेग बढ़ना, जी मचलाना, सिर घूमना, मुँह सूखना और भूख न लगना। पर वास्तवमें इनका संबंध मन

रोग
शारीरिक रोग
(Physical diseases)
मानसिक रोग
(Mental diseases)
मानसिक दौर्बल्य
(Psycho-neuroses)
मनोविक्षेप
(Psychoses)
स्नायु रोग
(Neurasthenia)
औत्सुक्य विकलता
(Anxiety)
भीति
(Phobia)
कल्पनाग्रह
(Obsession)
अनियंत्रित अभ्यास
(Compulsion)
हिस्टीरिया
(Hysteria)
स्थिर-भ्रम रोग
(Paranoia)
असामयिक मनोह्रस
(Dementia Praecox)
उत्साह विषाद मय उन्माद
(Manic Depressive Psychosis,)
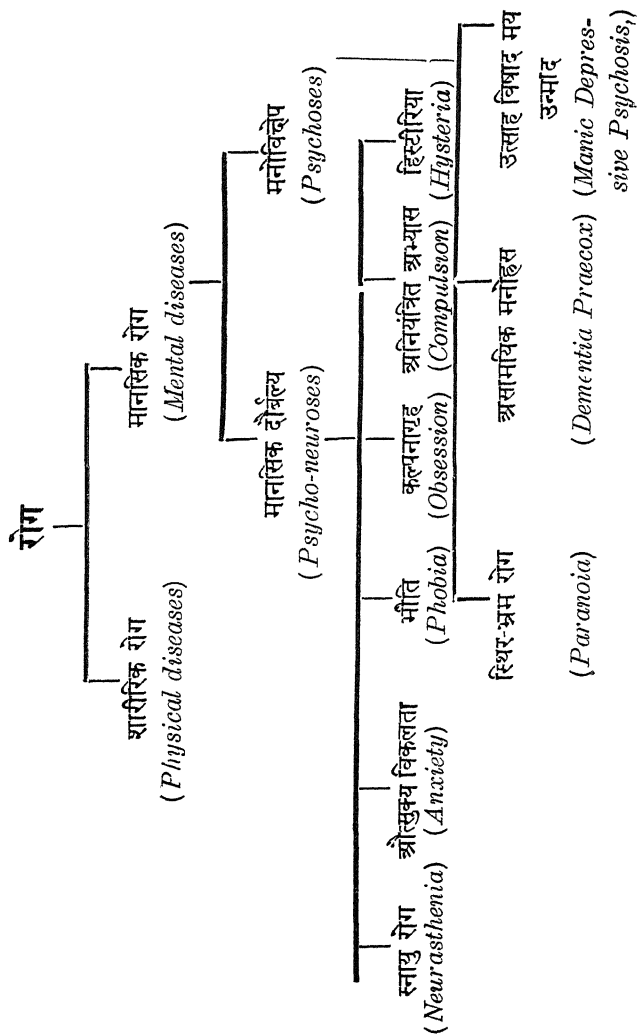
के विकार से है। प्रकृत वृत्ति की तुष्टि न होने से औत्सुक्य विकलता (*Anxiety Neurosis*) हो जाती है। इस रोग के होने पर रोगी के मन में भविष्य में अमंगल की आशंका हर समय बनी रहती है। मित्रों और संबंधियों के मृत्यु की शंका घेरे रहती है। मृत्यु का भय हुआ और बौखला उठा, आँगनमें इधरसे उधर टहलने लगा या चारपाई पर पड़ गया। रोगीकी चिंता कभी तो भाव-वस्तु (*Idea object*) से संबंधित होती है जैसे धन, और स्वास्थ्य; कभी यह चिंता मुक्ताचारी (*free floating*) होती है, निराधार कल्पना (*Phantasies*) से संबंधित रहती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस रोग के रोगी बहिर्मुखी * नहीं होते और न अन्तर्मुखी। स्वार्थी स्वभाव के होते हैं। किसी वस्तु के प्रति बहुत दिन तक अनुराग नहीं रहता; किन्तु ये अव्यावहारिक नहीं होते। व्यवहार सदैव अन्य व्यक्तियों के अनुकूल रहता है। नित्य की क्रियाएँ व्यवस्थित रूप से बिना व्यतिक्रम करते हैं। विवाह के दायित्व से घबड़ाते हैं। प्रायः परवर्गी की ओर आकर्षित होना ही चिंता का कारण बनता है। बात यह है कि वे अपने को संवेगात्मक व्यवहार-क्रियाओं (*emotional activities*) से दूर रखने की चेष्टा करते हैं।

औत्सुक्य विकलता

भीति रोग (*Phobia*) में रोगी के मन में कुछ भाव-वस्तुओं के प्रति भय हो जाता है जो साधारण व्यक्ति में भय उत्पन्न करने के लिये काफ़ी नहीं हैं। भय का विषय कभी स्थूल वस्तु होता है जैसे चाकू, जल; कभी सूक्ष्म (*abstract objects*) जैसे खुली जगह, बंद जगह, अँधेरा इत्यादि। यों तो साधारण व्यक्ति को भी अँधेरे में भय होता है, पर साधारण व्यक्ति और रोगी के भय में अंतर है।

भीति

कल्पनाग्रह या सनक (*Obsession*) रोग में रोगी के मन में तरह-तरह

---

* मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ—पद्मा अग्रवाल ३९

की अद्भुत् कल्पनाएँ घर कर लेती है और वह उनसे छूटकारा नहीं पाता।

कल्पना गृह

विचार-कल्पनाओ की लड़ी बन जाती है, एक से छुटकारा मिलने पर दूसरी कल्पना आ घेरती है। ऐसा रोगी अधिकतर बौद्धिक और विचारशील होता है। वह जानता है कि उसकी विचार-कल्पनाएँ आधारहीन और व्यर्थ है, पर वह उनपर किसी प्रकार नियंत्रण नहीं कर पाता। विवश होकर उनका शिकार बना रहता है।

अनियंत्रित अभ्यास (*Compulsion*) मे रोगी अद्भुत् क्रियाएँ करता है। विलक्षण विचार उठते है और रोगी अदभुत् आदतें डाल लेता है।

अनियंत्रित अभ्यास

वह जानता है कि उसकी टेब-वान, आदतें अकारण असंगत तथा आधार हीन हैं, पर वह विवश रहता है। कल्पना-ग्रह और अनियंत्रित अभ्यास मे अंतर इतना ही है कि कल्पना-ग्रह अव्यक्त क्रिया (*implicit activity*) है और अनियंत्रित अभ्यास व्यक्त क्रिया (*overt activity*)।

हिस्टीरिया के लक्षण बेहोशी, मांसपेशी तथा स्नायुओ का अकड़न, हँसना-रोना, अंगों का शून्य होना, और शरीर के किसी भाग मे लकवा मारना है। काम-वृत्ति का दमन करने से काम

हिस्टीरिया

विकृति (*Perversion*) और काम शून्यता (*frigidity in erotic activities*) आ जाती है। रोगी निद्रा में (*Somnambulistic state*) घूमता है। आत्म-विस्मरण की अवस्था मे परोक्ष रूप से अपनी इच्छा की पूर्ति करता है, जिसे वास्तविक जीवन में वह तृप्त नही कर सका है।

हिस्टीरिया के रोगी को प्रायः भूख नहीं लगती। कभी-कभी तो अल्प आहार उसकी मृत्यु का कारण बनता है। शरीर का कुछ भाग संवेदन-हीन (*anesthetic*) हो जाता है। उस भाग को नोचने और काटने पर भी उसे अनुभव नहीं होता।

यद्यपि हिस्टीरिया के रोग में शारीरिक लक्षण अधिकतर मिलते हैं, तो भी इसका संबंध शरीर के दोष और विकार से नहीं है। इसका कारण काम वृत्ति का दमन है। इसी कारण यह रोग किशोरावस्था में विशेषरूप से मिलता है।

मनोविक्षेप में (*Psychoses*) रोगी के मन में अधिकतर प्रकार-प्रकार की भाव-कल्पनाएँ उठती हैं। रोगी को भ्रान्ति (*Hallucination*) और भ्रम (*Delusion*) होते हैं। वह उन्हें सच्चा समझ बौखला कर प्रलाप की अवस्था को पहुँच जाता है। परन्तु हिस्टीरिया और औत्सुक्य विकलता की तरह इसमें शारीरिक रोग के लक्षण नहीं मिलते।

स्थिरभ्रम

स्थिर भ्रम रोग (*Paranoia*) में रोगी अपनी धारणा-कल्पना को भ्रम नहीं समझता; बल्कि सत्य समझ बैठता है। उसका भ्रम कभी बाह्य वस्तु से संबंधित होता है, कभी शरीर से और कभी अपने व्यक्तित्व तथा मन से। पर वास्तव में भ्रम का कोई आधार नहीं होता।

स्थिरभ्रम के रोगी प्रायः महात्वाकांक्षी और संशयालू होते हैं। यही कारण है कि वे भ्रम का शिकार बनते हैं। जिस व्यक्ति में तीव्र इच्छा-शक्ति (*Strong Will*) है वह भ्रम का शिकार नहीं बनता। रोगी का ध्यान अपने में सीमित रहता है और उसमें निजी इच्छा-शक्ति कम होती है। वह अपने काम शक्ति (*Libido*) को वाह्य वस्तु से खिंचकर अहं (*Ego*) में ही सीमित-संकेन्द्रित कर लेता है। अर्थात्, वह आत्मसम्मोही (*narcisstic*) होता है। उसे काम-वृत्ति की तृप्ति के लिये अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने तपसी आदर्शों (*ascetic ideals*) के कारण दूसरों की चेष्टाओं और संबंधों का अनुचित अर्थ निकालता है। इच्छाएँ और वृत्तियाँ विकृत हो जाती हैं और वह विवेक हीन हो असम्बद्ध व्यवहार और बातें करने लगता है। कभी तो निश्चेष्ट (*passive*) हो जाता है और कभी वह आवेश में दूसरे को ललकारता है।

स्थिरभ्रम रोग के आक्रमण में किसी को ऐश्वर्य-भ्रम (*Delusion of Grandeur*) होता है और किसी को पीड़ा-भ्रम (*Delusion of Persecution*)। कभी एक ही रोगी में दोनों प्रकार के भ्रम भी मिलते हैं। जब गर्व-ग्रन्थि (*Grandiose Complex*) पड़ती है तब वह अपने को ईश्वर का दूत या बड़ा सुधारक समझने लगता है; हीनत्व-ग्रन्थि (*Inferiority Complex*) होने पर विचारता है कि सब उसे जलील कर रहे हैं और उसके दुश्मन हैं। अपराध का भाव (*Unconscious sense of guilt*) होने पर तो यह धारणा बड़ी तीव्र हो जाती है। यह भ्रम अपने प्रिय तक ही सीमित नहीं रहता, जन साधारण और समाज के प्रति भी हो जाता है। सुधारात्मक, साम्प्रदायिक, और कामात्मक स्थिरभ्रम रोग होने पर ऐश्वर्य-भ्रम की प्रधानता रहती है। आगरे के मानसिक चिकित्सालय में इस वर्ग का एक रोगी सबसे कहता फिरता था कि 'मुझसे गवर्नर जेनरल की लड़की विवाह करना चाहती है। वह हवाई जहाज से अपने डैडी से आज्ञा लेकर हमारे पास आ रही थी। पर आगरे के कमिश्नर ने उसे हमारे तक आने से रोक दिया और मुझे यहाँ बंद कर रखा है।" राँची में भी एक रोचक केस मिला। रोगी गरीब घर का था पर करोड़ों की बात करता। बोला—"ये लोग हमें नहीं छोड़ते। इन्हें समझ नहीं है कि हमारा करोड़ों का व्यापार बनारस में चौपट हो रहा है और रोज़ लाखों रुपये का नुकसान दे रहा हूँ।"

असामयिक मनोह्रास

असामयिक मनोह्रास (*Dementia Praecox*) मनोविक्षेप वर्ग के रोगों में सबसे अधिक प्रचलित है। इसे स्कीज़ोफ्रेनिया भी कहते हैं जिसका अर्थ मानसिक विच्छेद है। यह रोग पन्द्रह और तीस वर्ष की आयु के बीच अथवा प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में अधिकतर होता है। असामयिक मनोह्रास का रोगी आत्म सम्मोही (*Narcisstic*) होता है। इस कारण उसकी सारी शक्ति बाह्य वस्तुओं से खिंचकर अहं (*Ego*) में ही केन्द्रित

हो जाती है। बाह्य वस्तुओं की ओर मानसिक शक्ति का प्रवाह न होने का अर्थ है इनकी ओर से पूर्ण रूप से उदासीन होना। वह कल्पनालोक में विचरण करता है। वास्तविक जीवन से उसका संबंध नहीं रहता। आत्म-प्राधान्य की वृत्ति को तुष्ट करने के लिए यथार्थ में वह कहीं का राजा बनना नहीं चाहता। कल्पना में वह अपने को राजा समझ लेता है और बस उसकी इच्छा की पूर्ति हो जाती है। रोगी की सब क्रियाएँ—बोधात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक—असंबद्ध हो जाती हैं। इनमें परस्पर क्रम और व्यवस्था नहीं रह जाती। एक घड़ी पुत्र के मृत्यु की बात करता है और दूसरे घड़ी वह खिलखिला कर हँस पड़ता है। राँची के अस्पताल में एक रोगी के ललाट पर तो गहरी सिकुड़न थी और होठों पर मूढ़ की मुस्कुराहट। रोग का आक्रमण होने पर मानसिक ह्रास होने लगता है। सब क्रियाओं का ह्रास बराबर में नहीं होता। पर मानसिक शक्ति का बाल्यावस्था की ओर प्रत्यावर्त्तन (*Regression*) होने के कारण कुछ न कुछ ह्रास होता अवश्य है। रोगी को भ्रान्ति (*Hallucination*) और भ्रम (*Delusion*) होते हैं। भ्रान्ति अधिकतर चक्षु (*Visual Hallucination*) और श्रोत (*Auditory Hallucination*) संबंधी होती है। अकारण ही वह देखता है कि कोई उस पर आक्रमण करने आ रहा है ; कभी उसे घोड़े की टाप सुनाई पड़ती है। भ्रम (*Delusion*) पूर्णतः असंबंधित और अद्भुत् प्रकार का होता है। एक रोगी को विश्वास था कि उसके मष्तिष्क में बिजली के तार लगे हैं, दूसरे को यह कि उसके पेट में पियानो बज रहा है।

अब प्रश्न यह है कि असामयिक मनोह्रास का कारण क्या है? कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका कारण पैतृक विशेषता है। स्टॉफर्ड का कथन है कि यह रोग बच्चे अपनी माँ से लाते हैं। कुछ के अनुसार बचपन में या जन्मते ही मानसिक आघात (*Cerebral Traumas*) हो जाने से यह रोग होता है। युंग की दृष्टि से असामयिक मनोह्रास के रोग का

कारण भावना-ग्रन्थियों का स्वतंत्र विकास और मानसिक शक्ति का प्रत्यावर्त्तन (*Regression*) है। फ्रायड के अनुसार यह अहं (*Ego*) और इंद (*Id*) में सहयोग न होने के कारण होता है। मैकडूगल के अनुसार यह आत्म-प्राधान्य (*Self-Assertion*) और आत्म लघुता (*Self-Abasement*) की मूलवृत्तियों में सामञ्जस्य का न होना है। वास्तव में किसी व्यक्ति के रोग का कारण क्या है, यह वहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर करता है। असामयिक मनोह्रास के उपचार के लिये अबाध मनः आयोजन की विधि सबसे उपयुक्त है।

उत्साह विषाद-मय उन्माद (*Manic Depressive Insanity*) में रोगी कभी तो अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है और कभी अत्यधिक उदास।

उत्साह विषाद मय उन्माद

अत्यधिक प्रसन्न होने की अवस्था उत्साहावस्था (*Manic-phase*) है; अत्यधिक उदास होने की अवस्था विषादावस्था (*Depressive-phase*)। ये अवस्थाएँ क्रम से नहीं आतीं, यह कि यदि आज वह प्रसन्न है तो कल उदास। यह रोगी के मनोभाव और परिस्थिति पर निर्भर है। तीव्रतम उत्साह (*Hyper-acute mania*) की अवस्था में रोगी की मनः स्थिति पागल जैसी हो जाती है। अपने उन्माद में मद्यपों जैसा हँसता नाचता भाव मुद्राएँ बनाता है। कभी आघात कर बैठता है, कभी अपने पर ही वार करता है। विचित्र रूप से बल आ जाता है। घर की साज-सामग्री को तोड़ना फोड़ना शुरू कर देता है। तीव्र उत्साह (*Acute mania*) में भी किसी प्रकार का क्रम और व्यवस्था नहीं रहती। इषद् उत्साह (*Hypo-mania*) की अवस्था में रोगी को सभी वस्तुएँ प्रसन्नता देती हैं पर वह प्रलाप की अवस्था को नहीं पहुँचता।

तीव्रतम विषाद (*Stuporous Melancholia*) में रोगी जीवन से असाधारण रीति से उदासीन हो जाता है। प्रश्न पूछे जाने पर भी वह शून्य बैठा आकाश की ओर देखता रहता है। आँखों से यदि आँसू की धारा निकली

तो बहती ही रह जायगी। आत्मग्लानि के बोझ से दबा रहता है; अपने को पापी और निकम्मा समझ कर जीवनसे छुटकारा पाने के लिये आत्महत्या करना अच्छा समझता है। उसकी विचार-शक्ति और शारीरिक क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं और निर्णय करने अथवा किसी पहलू के निष्कर्ष पर पहुँचने की शक्ति उसमें अवशेष नहीं रह जाती। वह चेतना तक खो देता है, समय तथा स्थान का भी उसे ज्ञान नहीं रह जाता।

उत्साह विषादमय उन्माद में रोगी को अध्यास (*Illusion*) और भ्रान्ति (*Hallucinations*) होती है। अध्यास के कारण वह स्त्री को पुत्र और पुत्र को स्त्री समझ लेता है। उत्साहावस्था (*Maniac-phase*) में जो भ्रान्ति होती है वह विषादावस्था (*Depressive-phase*) की भ्रान्ति से भिन्न होती है। कारण यह है कि उत्साहावस्था में लड़ने की वृत्ति और कामवृत्ति प्रबल रहती हैं और विपादावस्था में भय की भावना। उत्साहावस्था में क्रोध और कामोन्माद में कभी वह खिड़की की ओट से दुश्मन की झलक देखता है और उसे मारने के लिये तकिये के नीचे से रिवाल्वर निकालने को दौड़ पड़ता है, और कभी वह ऐसा नाटक करता है मानो किसी युवती का आवाहन कर रहा है। विषादावस्था में प्रायः यह भ्रांति होती है कि उसे मारने के लिये कोई कमरे में घुस रहा है। विशेषकर यह भ्रांति रात्रि में होती है।

इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में मानसिक रोग के विषय में विषद् परिचय मिलता है। मानव स्वभाव एकांगी नहीं है। उसमें अनेक प्रकृत इच्छाएँ हैं, वृत्तियां हैं और मन को स्वस्थ रखने के लिए हमें अपनी हरएक वृत्ति को समान रूप से तृप्त करना है; अन्यथा एक इच्छा का अत्यधिक विकास हो जायगा और दूसरी निष्प्रभ रह जायगी। ज्ञात मन (*Conscious Mind*) से हटकर अज्ञात मन (*Unconscious Mind*) में समा जायगी। पर ये दबी हुई इच्छाएँ अज्ञात मन में शांति से नहीं पड़ी रह सकतीं, कूटनीति से अपने प्रदर्शन का उपाय ढूँढ़ती रहती हैं। यदि इनकी अभिव्यक्ति साधारण

क्रिया-व्यापार तथा व्यवहार में नहीं हो पायी तो किसी भी अमानुषिक रूप में इनका विस्फोट हो सकता है। इसलिये प्रकृत मूल इच्छा का परिमार्जन करना सबसे उत्तम है। इससे वृत्तियों की अभिव्यक्ति परिशोधित रूप में होती है। यह प्रकृत इच्छा के संतोषण का भला उपाय है। मन में भावना-ग्रन्थियाँ नहीं रहने पातीं। बहिर्जगत और अन्तर्जगत में समझौता होता है। यहाँ तक कि अन्तर्जगत में भी इदम् की प्रकृत इच्छाओं और नैतिक मन में संघर्ष अवशेष नहीं रह जाता।

इस नियम-सिद्धान्त को ध्यान में रखने से अज्ञात मन में भावना-ग्रन्थि पड़ने की कम संभावना रहती है। भावना-ग्रंथि रोग का मूल है। चिकित्सक का सबसे बड़ा कार्य भावना-ग्रंथि का उन्मूलन करना है। इसके लिये रोगी के स्थिति-विशेष में परिवर्त्तन लाना है, क्योंकि अधिकतर भावना-ग्रंथियाँ अनुपयुक्त परिस्थिति के कारण पड़ जाती हैं। वातावरण संतोषप्रद होने से शारीरिक रोग में भी औषधि का प्रभाव जल्दी पड़ता है। इसीलिये आधुनिक युगमें नर्स, मेट्रन्स और डॉक्टरोंके लिये मानसोपचार शास्त्र की शिक्षा अनिवार्य्य है। इसके ज्ञान के बिना उनका अध्ययन अधूरा समझा जाता है। मनोविज्ञान के सूक्ष्म का उपयोग करना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। इनका ध्यान रखने से व्यक्तित्व में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। सामञ्जस्य बिना मनुष्य जीवन में कोई कार्य सफलता से नहीं कर सकता।

मनोविज्ञान और न्याय

आधुनिक युग में मनोविज्ञान के सिद्धान्त का प्रयोग न्याय-क्षेत्र में बहुत हो रहा है। प्राचीन कालमें किसी प्रकार के नियम-कानून नहीं थे। जब कभी एक व्यक्ति दूसरे को किसी प्रकार से हानि पहुँचाता या उसके साथ अत्याचार करता तब दण्ड स्वरूप उसकी चीज़ों का अपहरण कर लिया जाता और अवसर मिलने पर उसे मारपीट भी दिया जाता। आपस में व्यक्तिगत शिकायत रहती और व्यक्तिगत रूप से ही निपटारा हो जाता। झगड़ा निपटाने के लिये दूसरे के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। फिर पंचायत प्रथा चली। झगड़े का निपटारा कुछ सहज-सरल नियम से पंचायत कर देती। परन्तु आधुनिक युग में तो न्यायदंड शासन का एक बड़ा अंग बन गया है। सामाजिक संघटन अधिक व्यवस्थित और बड़े पैमाने पर होने से बड़े-बड़े न्यायालय बन गये हैं जहाँ अपराधी को उनके अपराध की तीव्रता के अनुपात में न्यायदंड दिया जाता है।

अपराध का प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है। यह सामाजिक रोग है, और समाज ने इसके निवारण का सूझ-सुझाव निकाल रखा है। समाज की दृष्टि से अपराध दंड द्वारा रोका जा सकता है। परन्तु जब इस समस्या पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार हुआ, यह निर्धारित हुआ कि दंड-प्रथा में परिवर्तन आवश्यक है। मृत्यु तथा अन्य कठोर दंड की प्रथा पर तो कटु आक्षेप हुआ। दंड देने के पहले न्यायाधीश को कम से कम दो बातों पर अवश्य विचार कर लेना चाहिये : एक, अपराधी की उम्र क्या है; दो, अपराध उसने पहली बार किया है या यह उसका अभ्यास है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दंड का उद्देश्य बदला लेना नहीं है। इसका उद्देश्य शिक्षाप्रद स्थिति उत्पन्न करना है जिससे कोई व्यक्ति जीवन में सामञ्जस्य स्थापित कर सके और अमानुषिक, असामाजिक क्रियाओं में रुचि लेने की आदत छोड़ दे।

सुधार के लिये परिस्थिति और स्वभाव का ध्यान रखकर दंड-नियम बनाना है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपराध की समस्याएँ निम्न लिखित हैं :—

१. अपराध की विवेचना।

२. निर्णय

३. अपराध की जाँच के लिये वैज्ञानिक विधि नियत करना।

४. अपराध-निवारण के लिये उपाय ढूढ़ना।

अपराध की विवेचना

अपराध की विवेचना का अर्थ है अपराध के कारण और उत्पत्ति (*etiology*) का ठीक पता लगाना। इस संबंध में एक वर्ग के मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार मानव में अपराध करने की जन्मागत पैतृक विशेषता होती है। वह पैदायशी चोर और डाकू होता है। दूसरे वर्ग के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अपराध करने की विशेषता पैदायशी नहीं। ग्रीक दार्शनिक सुकरात का मत है : "कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा नहीं होता, वातावरण उसे अच्छा या बुरा बनाती है।" * वातावरण में किसी प्रकार की कमी (*inadequacies*) और दोष मिलने पर बालक की वृत्ति का झुकाव असामाजिक क्रियाओं की ओर हो जाता है और प्रौढ़ भयंकर से भयंकर अपराध करने लगता है। बालक अच्छे बुरे का ध्यान छोड़कर अपनी बलवती वृत्ति को संतुष्ट करने के लिये किसी भी साधन को अपना लेता है। धन की कमी में चोरी करने की आदत डाल लेता है और माता-पिता के कठोर नियंत्रण से झूठ बोलने लगता है। अपने प्रति माता-पिता और शिक्षक की अरुचि देखकर सड़क पर खेलना प्रारम्भ करता है।

विवरण (*statistical report*) से पता लगता है कि अपराध का

* "No body is born good or evil circumstances make him so." Socrates.

कारण कहीं पैतृक विशेषता है, कहीं परिस्थिति, और कहीं पैतृक विशेषता और परिस्थिति दोनों ही हैं। इसपर विस्तार से आगे प्रकाश डाला जायगा।

निर्णय के संबंध में मनोवैज्ञानिक सुझाव यह है कि अपराधमें पकड़े गये सभी व्यक्तियों का विश्लेषणात्मक (*analytical*) अध्ययन किया जाय।

निर्णय

उनकी मानसिक दशा का ज्ञान होने से अपराध का ठीक पता लग जायगा और वास्तविक अपराधी ही दोषी ठहराया जायगा। केवल साक्षी के बयान पर निर्भर करने से न्यायाधीश गलत निर्णय दे सकता है। अपराधी को दंड देने में उसके इच्छानुगत भाव (*Motivation*) का भी ध्यान रखना आवश्यक है: उसने परिस्थिति से विवश होकर अपराध किया है या अकारण ही अपराध किया है? जिस व्यक्ति ने परिस्थिति से विवश होकर चोरी की है उसके लिये कड़ा दंड अहितकर होगा। पुनःशिक्षण और उपयुक्त परामर्श से उसमें सुधार किया जा सकता है। निर्णय करने के समय अपराधी के आयु का भी ध्यान रखना है। बाल अपराधी (*Juvenile*) का अपराध भले ही भीषण हो पर दंड सदैव सरल होना चाहिये। इनके अपराध का निर्णय ठीक दिया जावे इसके लिए पृथक् बालापराधी न्यायालय (*Juvenile Court*) होना चाहिये। न्यायाधीश को यह भी विचार में रखना है कि अपराधी ने अपराध पहली बार किया है या अपराध करना उसके स्वभाव का अंग बन गया है। तभी वह निर्णय ठीक दे सकेगा।

अपराध की वैज्ञानिक जांच

इटली के सैनिक डॉक्टर लौमब्रोजो ने अपराध का बाह्य अध्ययन (*objective study*) पहले पहल किया। अध्ययन का विषय अपराधियों की शरीर रचना (*Physiogonomy*) और नरविकास परीक्षण (*Anthropometry*) था। लौमब्रोजो को अपराधियों के शरीर-रचना में कुछ विशेषताएँ मिलीं और उनका यह कथन रहा कि इनका

सिर नीचा होता है, ललाट पीछे की तरफ फेकता हुआ, जबड़ा भारी रहता है, ठुड्डी एक विशेष प्रकार की (*atavistic chin*), और मस्तक मे अधिक उभरे हुये भाग होते हैं। पर इस मत का खंडन हुआ। चार्ल्स बोरिंग ने सन् १९१३ मे यह प्रमाणित किया कि वास्तव में अपराधी और निरपराध के शरीर-रचना मे कोई विशेष भेद नहीं रहता; केवल यह है कि अपराधी कद में अधिकतर लंबे नहीं होते और उनका वज़न भी कम होता है।

आर्थिक अवस्था भी बाह्य-परीक्षा (*Objective Test*) का आवश्यक विषय है: कोई व्यक्ति चोर इस कारण है कि वह गरीब है। प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रायः मनुष्य चोरी कर बैठता है। आर्थिक कठिनाई होने पर मानव की आत्म-प्राधान्य की वृत्ति तुष्ट नहीं हो पाती। समाज में स्थान, व्यवसाय में सफलता और वैवाहिक जीवन मे संतोष पाने के लिए धन अनिवार्य्य है।

अपराध का प्रश्न बहुत कुछ मनुष्य की मानसिक प्रतिभा या बुद्धि पर भी निर्भर है। अधिकतर अपराध अल्प बुद्धि के व्यक्ति करते हैं। जो बुद्धि मे निम्न (*low grade intellects*) हैं उनके लिए अपराध करना तीव्र बुद्धि के व्यक्तियों (*high grade intellects*) की अपेक्षा अधिक संभव है। हीले ने शिकागो में १००० अपराधियों की बुद्धि-परीक्षा ली। इनमें १८ प्रतिशत अपराधी जड़ थे और १० प्रतिशत मूढ़ (*feebleminded*)। विलियम ने कैलीफोर्निया के मिटिअर पाठ-शाला में बालापराधियों का अध्ययन किया और पाया कि ३२ प्रतिशत बालक मंद बुद्धि (*Sub-normal*) थे। कौलिन्स और ड्रीवर ने स्कॉट के ब्रौसटूल संस्था में अध्ययन किया और उन्हें ७ प्रतिशत अपराधी अल्प-बुद्धि मिले। यद्यपि पृथक् पृथक् मनोवैज्ञानिकों का विवरण पृथक् पृथक् रहा तो भी इतना सबने माना है कि मंद बुद्धि अपराध का बड़ा कारण है। अपराधी की बुद्धि-मात्रा अधिकतर ६०-८५ के बीच

रहती है। वृत्ति प्रकृत रूप में रहती है। परिमार्जित नहीं हो पाती। बौद्धिक विकास कम होने के कारण वे किसी के समझाने बुझाने में आ जाते हैं : उनका ध्यान अच्छे बुरे पहलू की ओर नहीं जाता। आवेश में प्रकृत इच्छा की पूर्ति के लिये बिना सोचे समझे अपराध कर बैठते हैं।

कुछ अपराधी की बुद्धि-मात्रा (*I Q.*) १०० से भी अधिक होती है। डकैती करना, जालसाज़ी से रुपया बनाना, झूठा हस्ताक्षर करके खज़ाने से रुपया ले लेना अधिक बुद्धि के कार्य हैं। तीव्र बुद्धि के अपराधियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर मालूम हुआ है कि प्रारम्भ से ही इनके मन का झुकाव अपराध की ओर होता है और इस प्रकार ये अपनी मानसिक शक्ति का उपयोग समाजोपयोगी क्रिया में न कर असामाजिक क्रियाओं में करने लगते हैं।

अपराधियों की जांच के लिए वाह्य परीक्षाएँ (*Objective Test*) निम्न लिखित प्रकार हैं :—

१. शब्द संधान परीक्षा (*Word Association Test*)
२. वाक्य-पूरक परीक्षा
३. अबाध मनः आयोजन (*Free Association*)
४. अनियंत्रित प्रतिक्रियाएँ

शब्द-संधान परीक्षा

शब्द-संधान परीक्षा (*Word Association Test*) विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (*Analytical Psychology*) के प्रवर्त्तक युंग द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इस परीक्षा में शब्दों की एक सूची रखी गयी है। इस सूची में कुछ शब्द अनिर्णायक (*non-crucial*) हैं और कुछ निर्णायक (*crucial*)। अभियोगी को सूची में रखे शब्दों की प्रतिक्रिया बारी-बारी से देनी पड़ती है। उसे आदेश दिया जाता है कि निश्चित समय में इन शब्दों की प्रतिक्रिया में जो शब्द उसके मन में आवे उसे वह लिख दे या कह दे। जो कुछ वह कहता है उसका विश्लेषण करके यह पता लगाने का

प्रयत्न किया जाता है कि वह अपराधी है अथवा नहीं। कुछ शब्दों की प्रतिक्रिया में तो वह बिना रुके जबाब दे देता है और कुछ को देखते और सुनते ही उसके अज्ञात मन में हलचल होती है और हलचल के कारण जल्दी जबाब नहीं दे पाता : देता भी है तो उसकी प्रतिक्रिया निरपराध व्यक्तियों की प्रतिक्रिया से भिन्न रहती है। विश्लेषण करने में प्रतिक्रिया-समय (*Reaction time*) और प्रतिक्रिया-शब्द (*Reaction word*) दोनों का ही महत्व है। प्रत्योत्तर में वह जितना समय लेता है और जो शब्द कहता है उसीके आधार पर अपराधी का ठीक-ठीक पता लगाने का उपक्रम किया जाता है। सामान्य रूप से निरपराध व्यक्ति निश्चित समय में प्रतिक्रिया दे देता है; अपराधी अतिक्रम (*deviation*) करता है। अनिर्णायक शब्दों (*non crucial word*) की प्रतिक्रिया में ·०८ अतिक्रम होता है और निर्णायक (*crucial*) शब्दों में ·३६। समय इस कारण निश्चित किया जाता है कि प्रतिक्रिया अपने आप (*spontaneous response*) की मिले। सोच विचार के बाद की नहीं। प्रतिक्रिया शब्द के महत्व का कारण यह है कि मनुष्य कैसा भी दृढ़ इच्छा का हो अपराध करने पर संवेग की दृष्टि से वह मन में पूर्णतः अस्थिर हो जाता है। अपराध के भाव (*sense of guilt*) को ज्ञात मन (*Conscious Mind*) से वह भले ही दबा ले और सोच समझकर जबाब देनेका प्रयत्न करे, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया अज्ञात मन (*Unconscious Mind*) में दबे हुए भाव से अवश्य अभिसिंचित रहेगी। खून, बन्दूक और लाल रंग का नाम सुनते ही हत्या करने वाले व्यक्ति चौंक उठते हैं।

अपराधी प्रत्योत्तर में प्रायः एक ही शब्द बोलता है। उससे 'ओक' शब्द कहा गया, प्रतिक्रिया में उसने वृक्ष कहा। फिर उससे 'मकान' शब्द कहा गया, उसने वृक्ष दुहराया। इस प्रकार और शब्दों की प्रतिक्रिया में भी वह वृक्ष कहता गया। बात यह है कि जब अपराधी विशेषकर निर्णायक (*crucial*) शब्द को सुनकर अस्थिर हो जाता है और उसके आभ्यन्तरिक

जगत में संवेगात्मक समायोग (*emotional balance*) नहीं रह जाता तब वह प्रतिक्रिया में एक ही शब्द दुहराता है। इस प्रकार की एकरूप प्रतिक्रिया (*steriotyped response*) निरपराध व्यक्ति नहीं करता। निरपराध व्यक्ति अभियोग में फँस जाने के कारण भले ही प्रतिक्रिया देर से करे, परन्तु अज्ञात मन में भावना-ग्रन्थि से आक्रान्त न होने के कारण वह शब्द नहीं दुहराता।

इसके अतिरिक्त अपराधी से जब एक ही शब्द बार बार कहा जाता है तब प्रतिक्रिया में हर बार वह एक ही शब्द नहीं कहता। 'लाल' शब्द के प्रत्योत्तर में अपराधी एक बार 'पेंसिल' कहता है और दूसरी बार 'सिपाही'। निरपराध यदि एक बार 'लाल' शब्द के प्रत्योत्तर में 'देहाती सारी' कहता है तो दूसरी बार भी वही कहेगा। निरपराध की प्रतिक्रिया में व्यवस्था और क्रम मिलता है जो अपराधी में नहीं मिलता।

निर्णायक (*Crucial and critical*) शब्दों के प्रत्योत्तर में अपराधी महत्व के शब्द बोलता है; निरपराध जो शब्द प्रतिक्रिया में कहता है उसका अर्थ-मूल्य नहीं होता।

इस प्रकार शब्द-संधान परीक्षा (*Word Association Test*) अपराधी का पता लगाने में सहायक होती है। विश्लेषणात्मक शक्ति और पैनी दृष्टि होने से विश्लेषक सहज-सरल रीति से अपराधी का पता लगा सकता है। पर इसमें कठिनाइयाँ भी हैं। शब्दों की सूची बनाना आसान नहीं। निर्णायक (*crucial*) और अनिर्णायक (*non-crucial*) शब्दों को किस अनुपात में रखा जावे जिससे अपराधी का पता लगाने में सुविधा हो। शब्द किस प्रकार के रखे जावें जिससे अपराधी प्रभावित न होवे; तभी वे उसके अज्ञात मन की भावना-ग्रन्थियों को स्पर्श कर सकेंगे। निर्णायक (*crucial*) और अनिर्णायक (*non-crucial*) शब्दों में संतुलन रखना आवश्यक है। संतुलन से तात्पर्य है दोनों प्रकार के शब्द एक रूप हों—यदि निर्णायक (*crucial*) शब्द क्रिया के रूप में है तो अनिर्णायक (*non-crucial*)

भी। यदि एक संज्ञा के रूप में है तो दूसरा भी संज्ञा के रूप में हो। संख्या में भी बराबर हों। तभी दोनों प्रकार के शब्दों की प्रतिक्रियाओं के अनुपातको देखकर कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकेगा। सूची में शब्द इस प्रकार के रखे जावें जिनसे अपराधी व निरपराध एक समान प्रभावित न होवें। केवल अपराधी के भावना-ग्रन्थि को स्पर्श करता हो। यदि दोनों समान रूप से प्रभावित होंगे तो प्रतिक्रिया से अपराधी का पता नहीं लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ, 'रिवाल्वर' शब्द है। इस शब्द से अपराधी और निरपराध समान रूप से चौंकते हैं। इस कारण यह शब्द उपयुक्त नहीं है।

वाक्य पूरक परीक्षा

वाक्य पूरक परीक्षा में अभियोगी के संवेग को स्पर्श करता हुआ एक मजबून दिया जाता है जिसमें कुछ रिक्त स्थान भरने के लिये रहता है। मजबून गूढ़ तथा संवेगात्मक रखने का प्रयोजन यह है कि अभियोगी उससे प्रभावित हो, उसकी भावना-ग्रन्थियाँ सजग हो जायँ, और वह रिक्त स्थानों की पूर्त्ति में शब्दों द्वारा अपनी भावना को व्यक्त कर दे। शब्दों के भरने पर मजबून का जो अर्थ होता है उसके आधार पर अपराधी का पता लगाया जाता है। विश्लेषक अभियोगी के मनोभाव को पढ़ लेता है। यदि इस विधिका प्रयोग 'शब्द संधान परीक्षा' के साथ किया जाय तो अधिक अच्छा है। अपराधी का पता लगाने में सुगमता होगी। 'शब्द संधान परीक्षा' की तरह यह स्वतंत्र विधि नहीं है।

अबाध मनः आयोजन (*Free Association Test*) विधि के विषय में 'मनोविज्ञान और उपचार' के अध्याय में विवरण दिया जा चुका है।

अबाध मनः आयोजन

प्रारम्भ में फ्रायड ने अबाध मनः आयोजन का प्रयोग केवल रोगी के उपचार के लिये किया, पर अब इसका प्रयोग अपराधी के छानबीन में भी होता है। विश्लेषण करने पर पता लगता है कि अपराधी की मनः स्थिति बहुत कुछ मानसिक रोग से त्रस्त व्यक्तियों की सी होती है। दोनों ही वर्ग के

व्यक्ति संवेग की दृष्टि से अस्थिर होते हैं, मन में भावना-ग्रन्थियाँ पड़ी रहती हैं और इनका व्यक्तित्व साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है। दमन की कार्य-प्रणाली (*mental dynamism*) दोनों अवस्थाओं में क्रियमाण रहती है। अन्तर केवल यह है कि एक की क्रिया समाज के लिये अहितकर है और दूसरे की अपने लिये। परन्तु व्यक्ति से ही समाज बना है और व्यक्तिगत हित-अनहित में समाज का हित-अनहित है।

अबाध मनः आयोजन परीक्षा का प्रयोग करने में अभियोगी से मानसिक रोग के रोगी सा व्यवहार किया जाता है। उससे आग्रह किया जाता है कि वह अपने भाव-कल्पना-विचार, विषय-वस्तु और घटना को निसंकोच कह डाले। इसमें प्रतिक्रिया के लिये शब्दों की सूची नहीं दी जाती। अभियोगी जो कुछ सम्बद्ध असम्बद्ध कहता है उसके आधार पर यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि वह अपराधी है अथवा नहीं। उसका अज्ञात मन अपराध-भाव (*unconscious sense of guilt*) से कहाँ तक आक्रान्त है और आभ्यन्तरिक क्षेत्र में किस वृत्ति का दमन हुआ है जिसके कारण वह स्वार्थी हो अपराध कर बैठा है?

अबाध मनः आयोजन विधि की विशेषता यह है कि इससे अपराधी का केवल पता ही नहीं लगाया जाता बल्कि उसको सुधारने का प्रयत्न भी किया जाता है। मनुष्य में सुधार संभव है। मानव जड़ नहीं, गतिमय है; उसका व्यक्तित्व (*Personality*) नित्य प्रति नया रूप लेता है। केवल उसे राह बदलना है। अपनी शक्ति का व्यय एक वर्ग की क्रिया में न कर दूसरे वर्ग की क्रिया में करना है जो अधिक उपयोगी और हितकर है। उसकी रुचि का झुकाव प्रयत्न से धीरे धीरे समाजोपयोगी क्रिया की ओर जा सकता है। बात यह है कि प्रायः मनुष्य अच्छे वातावरण के अभाव में परिस्थिति से बाध्य होकर असामाजिक क्रिया कर बैठता है। वह पैदायशी असामाजिक नहीं होता। माता-पिता का अत्यधिक प्यार, उदासीनता और आर्थिक कठिनाईयाँ उसे बुरे आचरण के लिये बाध्य करती हैं।

इस प्रकार इस परीक्षा में विश्लेषण द्वारा रोगी की मनःस्थिति का ठीक-ठीक पता लगाकर उसका रुख जीवन के प्रति बदलकर उसमें सुधार लाया जा सकता है।

अनियंत्रित प्रतिक्रियाएँ

इन परीक्षाओं के अतिरिक्त कुछ शारीरिक संकेत (*physiological indicators*) भी हैं जिनसे अपिराधी का पता लग जाता है। इन संकेतों मे स्वास-उस्त्रास (*breathing*), रक्त—दबाब (*blood pressure*), सलावा और पसीने का ग्रन्थि-स्राव, रक्तनलिकाओं का यथास्थानमें रहना (*Vascular adaptotion*) और बाह्य मांसपेशि का संवेदन (*external muscular innervations*) विशेष उल्लेखनीय हैं। जब किसी व्यक्ति का इच्छानुगत भाव (*motivation*) धोखा देने का रहता है तब उसकी उपरोक्त प्रतिक्रियाएँ (*reactions*) साधारण से भिन्न होती हैं। भय या प्रतिशोध (*aggressiveness*) के संवेग की प्रधानता होने से स्वास-उस्त्रास में परिवर्त्तन हो जाता है, रक्त का दबाब तेज और हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। इसका तात्पर्य्य है कि अपराध करने पर अनियंत्रित प्रतिक्रियाओं (*Involuntary reactions*) में भी परिवर्त्तन हो जाता है। अभी तक जिन बाह्य परीक्षाओं (*Objective Tests*) का उल्लेख हुआहै उनमें केवल नियंत्रित प्रतिक्रियाएँ (*Voluntary reactions*) अध्ययन का विषय थीं। अनियंत्रित प्रतिक्रियाओं का ठीक विवरण रखने के लिये न्युमोग्राफ का यंत्र है। इस यंत्र द्वारा अपराधी और निरपराध के स्वास-उस्वास और रक्त-दबाब का विवरण लिया जाता है।) विवरण पृथक् पृथक् मिलता है। बेनुसी ने प्रयोग कर यह प्रस्ताव रखा कि अपराधी का पता लगाने के लिये सबसे उत्तम बात उसके बयान देने के पहले और बयान देने के बाद के स्वास-उस्वास (*inhalation–exhalation*) में जो अनुपात होता है उसका विवरण लेना है। झूठा बयान देने पर २०-२५ सेकेंड बाद सांस गहरी

हो जाती है, क्योंकि बयान देने के बाद अपराधी आराम महसूस करता है।

लारसन ने रक्त-दबाब की गति का बड़े पैमाने पर अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि अपराधी का रक्त-दबाब बराबर बदलता रहता है। प्रश्न का उत्तर देने के पहले रक्त-दबाब कुछ रहता है, देते समय संवेगात्मक अस्थिरता (*emotional disturbance*) के करण यह अधिक हो जाता है और बाद में कुछ और। जो व्यक्ति निरपराध है उसका रक्त-दबाब सब अवस्था में समान रहता है। रक्त-दबाब में परिवर्तन होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति अपराधी है। रक्त-दबाब में ग्राहक (*Systolic*) और निश्वासक पेशियों (*Diastolic*) की अवस्था का माप होता है। ग्राहक पेशि रक्त-दबाब की वह अवस्था है जिसमें सब ढक्कन (*Valves*) खुल जाते हैं और रक्त तेज़ी से धमनि (*arteries*) में बहने लगता है। यह बात अधिकतर भय-संवेग की प्रधानता होने पर होती है और अपराध करने पर भय का होना स्वाभाविक है।

शारीरिक परिवर्तन नापने के लिये स्फीग्रनोग्राफस् (*Sphygrnographs*) और गालवैनोमीटरस् (*Galvanometres*) नामक यंत्र हैं। पसीने के ग्रन्थि-स्राव (*Secretion of sweat glands*) के लिये 'साइकोगालवनिक रीफ्लेक्स टेस्ट (*Psychogalvanic Reflex Test*) है। इस परीक्षा से उस व्यक्ति-विशेष की संवेगात्मक अवस्था का ज्ञान हो जाता है। पर यह नहीं समझ आता कि उस संवेग विशेष का आधार क्या है और वह क्योंकर उत्पन्न हुआ। जब लैन्डिस और हन्स ने इस प्रश्न पर विचार किया और साइकोगालवैनिक प्रतिक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन किया तब उन्होंने घोषित किया कि पसीने के ग्रन्थि-स्राव में परिवर्तन लाने के लिये किसी विशेष प्रकार के उत्तेजन की आवश्यकता नहीं है : यह अवस्था किसी भी प्रकार के उत्तेजन की उपस्थिति से हो जाती है। संवेग के उत्पन्न होते ही ग्रन्थि-स्राव में परिवर्तन हो जाता है।

मस्तिष्क की लहर (*Brain wave Pattern*) पर भी अपराध का प्रभाव पड़ता है। संवेग का संबंध मस्तिष्क से बहुत निकट है। जब मनुष्य शांत रहता है, 'मस्तिष्क की लहर' कुछ रहती है; जब क्रोध में उत्तेजित तब दूसरे प्रकार की। उदास रहने पर मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है; प्रसन्न होने पर क्रियमाण। इस कारण मनोवैज्ञानिकों ने अपराध के संबंध में मस्तिष्क की लहर का भी अध्ययन करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार अपराधी का ठीक पता लगाने के प्रयोजन से बहुत सी मनोवैज्ञानिक विधियाँ ढूढ़ी गई। अपराध की समस्या मानव-स्वभाव की समस्या है। इसका उचित सुझाव मनोविज्ञान के अन्वेषण द्वारा ही हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि अपराध को, जो एक सामाजिक रोग (*social disease*) है, रोकना क्या संभव है? यह जानने के पहले यह समझना आवश्यक है कि अपराध का कारण क्या है?

अपराध निवारण

तभी अपराध रोकने का प्रबंध किया जा सकता है। अपराध-विवेचना के प्रसंग में अपराधके कारण की ओर संकेत किया जा चुका है। अब इस पर विस्तार से प्रकाश डालना है। (लौमब्रोजोके अनुसार अपराधका कारण पैतृक विशेषता है। कुछ व्यक्तियोंमें अपराध की पैदायशी प्रवृति (*inborn impulse for crime*) होती है: जन्म से अपराधी वर्ग के होते हैं। इसका प्रमाण चौर्य वृत्ति का व्यक्ति (*kleptomanies*) है। उसमें बिना प्रयोजन किसी वस्तु को प्राप्त करने की अनियंत्रित तीव्र प्रवृत्ति (*irrepressible impulse*) जन्म से होती है। वह उसे बिना लिये नहीं रहता। विशेषता यह है कि

अपराध का कारण

वास्तव में उसे उस वस्तु की आवश्यकतानहीं होती। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों में प्रज्ज्वलन प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार के व्यक्ति (*Pyromania*) दूसरे के घर में आग इस कारण नहीं लगाते कि उनका उससे द्वेष या झगड़ा है; प्रवृत्तिशीलता के

कारण आग लगाये बिना नहीं रह सकते। कामापराधी (*Sex offenders*) में काम-वासना तीव्र रहती है; कामोत्तेजन मिलते ही वह मन से अस्थिर हो जाता है और समाज के नियम का उलंघन कर वर्जित व्यवहार करने के लिये तुल जाता है। इस प्रकार की काम संबंधी अपराध करने की प्रकृत भावना स्थिरभ्रम रोगी में भी मिलती है। सक्रिय स्वभाव का होने पर कामोद्दीपन की अवस्था में अपने प्रतिद्वंद्वी की हत्या तक कर देता है।

१ रौज़ेनआफ और हैन्डी ने भी अपराध का कारण पैतृक विशेषता बतलाया है। इन्होंने जुड़वा बच्चों का निरीक्षण किया। निष्कर्ष यह निकाला कि जब जुड़वा बच्चे डील-डौल में समान होते हैं तब यदि एक बालक में अपराध की प्रवृत्ति रही तो दूसरे में अवश्य होगी। डील-डौल में समान न होने पर संभव है एक में अपराध की वृत्ति हो और दूसरे में न हो।

सामाजिक शास्त्र के विशेषज्ञ टार्ड के अनुसार अपराध का कारण पैतृक विशेषता नहीं है, इसका दायित्व समाज पर है। मानव में अनुकरण की ओर स्वाभाविक झुकाव होता है। जब वह अपने इर्द-गिर्द संगी-साथी को चोरी करते देखता है तब वह उनका अनुकरण करता है और उसकी भी बान चोरी करने की पड़ जाती है। हीले के अनुसार भी अपराध का प्रमुख कारण वातावरण है। उन्होंने ८२३ बाल अपराधियों के परिवार के वातावरण का सूक्ष्म अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है। वातावरण शब्द का प्रयोग वृहत अर्थ में किया गया है। वातावरण में, बाल्यावस्था से जीवन के अंत तक मनुष्य जिन किन्हीं विषय-वस्तुओं के सम्पर्क में आता है—वे सब निहित हैं। माता-पिता तथा शिक्षक के प्रभाव के अतिरिक्त, तापक्रम मौसम और किसी जगह की स्थिति विशेष भी इसमें आते हैं। अपराध पर तापक्रम का प्रभाव पड़ता है। ऊँचा तापक्रम होने पर मनुष्य अधिक अपराध करता है, क्योंकि उसका मन अस्थिर और चिड़चिड़ा रहता है। वह विशेष कर काम-वृत्ति संबंधी अपराध करता है। जाड़े के मौसम में रात्रि बड़ी होती है, कपड़े की अधिक आवश्यकता पड़ती

है, भोजन भी अधिक चाहता है। इस कारण प्रायः चोरी की ओर मन का झुकाव जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि मौसम और तापक्रम किसी व्यक्ति को अपराधी बनाते हैं। ये तो केवल सहायक मात्र हैं। मुख्य बात तो परिवार और पाठशाला की है। इनमें दोष होने से जब बालक के मन का झुकाव अपराध की ओर हो जाता है तब तापक्रम और मौसम से अपराध करने की उत्तेजना अवश्य मिल सकती है।

अपराधी और निरपराध बालकों के वातावरण का अध्ययन करके बर्ट ने भी यह निष्कर्ष निकाला कि वातावरण में दोष होने से प्रायः बालकों की प्रवृत्ति अपराध की ओर हो जाती है। उन्होंने १९७ अपराधी और ४०० निरपराध बालकों के परिवार की अवस्था का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया। परिवारका दोषयुक्त अनुशासन (*defective discipline*) और परस्पर संबंध (*defective family relation*) तथा व्यक्तिगत संवेगात्मक अवस्था (*emotional condition of an individual*) अपराध के प्रमुख कारण हैं। किन्तु रेकलेस और ब्रोनर के अनुसार पारिवारिक अनुशासन और संबंध अपराध के लिये विशेष उत्तरदायी नहीं हैं। परिवार की व्यवस्था भले ही ठीक न हो, बालक अच्छा नागरिक बन सकता है।

बाल अपराध के लिये परिवार की निम्नलिखित समस्याएँ हैं :—

१. माता-पिता का बच्चों के प्रति असंतुलित व्यवहार

२. माता-पिता में आपस का झगड़ा।

३. परिवार का नैतिक पतन (*moral laxity*)।

४. निर्धनता।

परिवार में प्रायः माता-पिता का बालकों के प्रति व्यवहार ठीक नहीं होता। कहीं अत्यधिक स्नेह मिलता है तो कहीं उदासीनता। एक ही परिवार में दो बच्चों के प्रति पृथक् पृथक् व्यवहार रहता है। रूपवान बलिष्ट और प्रखर बुद्धि का बालक प्यार का पात्र बनता है, कुरूप और अल्प बुद्धि के बालक की उपेक्षा की जाती है। माता-पिता का

अत्यधिक स्नेह पाने से लाड़ला बालक स्वेच्छाचारी बनता है। उसका जो जी चाहता है वह करता है, अपनी ऐंठ में रहता है, किसी को कुछ नहीं समझता, और पाठशाला से भागा करता है। उपेक्षित बालक में हीनत्व-ग्रन्थि (*Inferiority-Complex*) पड़ जाती है। दूसरे को प्यार पाते देख उसे ईर्ष्या होती है। बालक में आत्म-प्राधान्य की स्वाभाविक वृत्ति रहती है। जब उसे घर में अपने को दिखलाने का मौका नहीं मिलता तब वह कुछ और युक्ति ढूँढ़ता है। अपने साथियों का गुट बनाकर असंगत और असामाजिक योजनाएँ बनाता है जिससे उसे अपने को दिखलाने का मौका मिले। एक बाल अपराधी से 'बालापराधी न्यायालय' (*Juvenile Court*) में पूछा गया "तुमने चोरी क्यों की?" बड़े तपाक से बोला "जिसमें कि मैं यहाँ लाया जाऊँ और लोग समझ लें कि मैं भी कुछ हूँ"। माता-पिता का बालक के प्रति कुशल शिक्षक सा संतुलित व्यवहार होना चाहिये।

माता-पिता के असंतुलित व्यवहार के परिणाम में बचपन से ही बालक के मन में भावना-ग्रन्थि पड़ जाने से वह विक्षिप्त भी हो जा सकता है। संभव है बाल्यावस्था में मानसिक दुर्बलता न प्रकट हो, परन्तु बीज लग जा सकता है जो आगे चल कर भयंकर रूप धारण कर लेता है। मानसिक रोग का बीज बचपन की भावना-ग्रन्थि में है।

बालक के व्यक्तित्व का विकास बहुत कुछ माता-पिता के परस्पर के संबंध पर भी निर्भर है। वह माता-पिता को आदर्श व्यक्ति समझकर उनका अनुसरण करता है। यदि माता-पिता का जीवन समस्या रूप है (*Problem parents*) तो बालक का जीवन भी समस्या रूप (*Problem child*) होगा।

जिस परिवार में नैतिक वातावरण नहीं होता वहाँ बालक में नीति की भावना का विकास नहीं हो पाता। नीति और अनीति की भावनाएँ सामाजिक देन हैं। जन्म के समय बालक नित्यानित्य (*a-moral*) रहता है। अनैतिक वातावरण में उसके मन का झुकाव अनीति की ओर हो जाता

है। चोरी डकैती करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। जिस परिवार का वातावरण नैतिक होता है वहाँ बालक के अपराधी बनने की संभावना कम होती है।

इसी प्रकार निर्धनता का भी बालक के मनोभाव पर प्रभाव पड़ता है। इसका उल्लेख हो चुका है।

परिवार के अतिरिक्त पाठशाला के वातावरण का भी बालक के आचरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पाठशाला का वातावरण प्रभावशाली तथा लाभप्रद बनाने के लिये दंड-प्रथा हटाना, रुचि के अनुकूल विषय रखना तथा बुद्धि-माप के आधार पर बालकों का वर्गीकरण करना मुख्य सुझाव हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से पाठशाला मे दंड-प्रथा बालकों के लिये अहितकर है। इससे उनके मानसिक विकास होने में बाधा पड़ती है, मन मे हीनत्व-ग्रन्थि दृढ़ हो जाती है और उनमें आत्मविश्वास नहीं रह जाता। अध्यापक के भय से पाठशाला से भागना प्रारम्भ करते हैं; पाठशाला के समय तक माता-पिता की डाँट के भय से घर भी नहीं लौटते। गलियों में खेलते है। बुरे संगी-साथी के संम्पर्क में आने से बुरी आदतें डालते हैं। नीति की भावना उत्पन्न नहीं हो पातीं जिससे वे संयमी और सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकें। संभव है ये बालक बड़े होने पर गुरुतर अपराध करें। पाठशाला वास्तव में एक प्रकार का सुधारालय है जहाँ बालक के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और वैयक्तिक सुधार का पूरा साधन देना है। बाल्यावस्था प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था में अपराध करने की आदत पड़ जाने पर सुधार कठिन हो जाता है। बाल अपराधी को उचित शिक्षा देने के उद्देश्य से अमेरिका में पहले पहल 'चाइल्ड गाइडेन्स क्लिनिक' खोला गया।

पाठशाला में पाठ्यक्रम इस प्रकार से रखा जाय जो बालकों के लिये रुचिकर हो। रुचि न होने से उनका मन अध्ययन में नहीं लगता।

यदि पाठ्यक्रम रुचि के अनुकूल रहा तो बरबस उनका ध्यान बुरी आदतों से खिंचकर अध्ययन में लग जायगा। एक बार मन लग जाने से दूसरी ओर जाने की संभावना कम हो जाती है।

'शिक्षा और मनोविज्ञान' के अध्याय में यह उल्लेख किया जा चुका है कि बालकों के बौद्धिक उत्थान के लिये बुद्धि-परीक्षा के आधार पर उनका वर्गीकरण होना चाहिये। यह नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक है।

इस तरह अपराध से बचने के लिये परिवार और पाठशाला के वातावरण में सभी दृष्टि से सुधार आवश्यक है। इससे बालक के मन का झुकाव प्रारम्भ से ही अपराध की ओर न जा सकेगा।

अपराध की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि (*Psychological background of crime*) निम्न लिखित प्रकार है:—

१. दमन।

२. किसी एक मूल वृत्ति का अत्यधिक विकास।

३. मानसिक दोष (*mental defectiveness*)।

४. अनुचित निर्देशन (*Bad Suggestion*)।

५. अनुकरण।

मानसिक रोग की तरह अपराध का भी संबंध वृत्ति के दमन से है। मानव में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ (*Instincts*) हैं। ये पैदायशी हैं—

दमन

मानव की स्वाभाविक माँग और भूख हैं। जब मनुष्य परिस्थिति से बाध्य होकर वृत्तियों का अव्यक्त रूप से दमन (*Repression*) करता है तब वह संवेग की दृष्टि से अस्थिर (*emotionally unstable*) हो जाता है और उसकी मानसिक शक्ति (*psychical energy*) का प्रवाह उपयुक्त दिशा में न होकर अनुपयुक्त दिशा में होने लगता है। वृत्ति की तुष्टि करने का उचित साधन न मिलने पर वह अनुचित कार्य करने लगता है।

आत्म-प्राधान्य की वृत्ति (*Self-assertion*) का दमन करने से वह वृत्ति अज्ञात मन में जाकर और सजग हो जाती है। परिणाम स्वरूप संभव है कि वह व्यक्ति प्रभुता के लिये असामाजिक कार्य करे। इसी प्रकार काम-वृत्तिका दमन कर देने से वह अवशेष नहीं हो जाती, अज्ञात मन में और तीव्र हो उठती है। (काम-वृत्ति का दमन करने से इसका विपरीतीकरण (*Perversion*) दो प्रकार से होता है: परपीड़न (*Sadism*) और आत्मपीड़न (*Maschoism*)। परपीड़न होने पर सुखानुभव की प्राप्ति के लिये वह बलात् व्यभिचार करता है। आत्मपीड़न होने पर अधिकतर वह दूसरों का अपवाद करता है।)

इस तरह अपराध के पीछे किसी न किसी वृत्ति के दमन का इतिहास छिपा रहता है। बिना दमन वर्जित कार्य नहीं होता। वृत्ति का दमन कुछ को विक्षिप्त बनाता है, कुछ को अपराधी। जिस व्यक्ति का नैतिक मन (*Super-ego*) बली है वह विक्षिप्त हो जाता है; और जिसका नैतिक मन बली नहीं होता वह अपराध करता है। यह भावना-ग्रन्थि की तीव्रता पर भी निर्भर करता है। भावना-ग्रन्थि अधिक मात्रा में होने पर विक्षिप्तावस्था आती है और कम होने पर अपराध होता है। एक ही व्यक्ति विक्षिप्त हो सकता है और अपराध भी कर सकता है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि अपराधी और विक्षिप्त में स्थिर सबंध है: जो अपराधी है वह विक्षिप्त भी है और जो विक्षिप्त है वह अपराधी भी है। विक्षिप्तावस्था में किया हुआ अपराध वास्तव में अपराध नहीं होता। अपराध सोच विचार कर किया जाता है, उस अवस्था में जब मष्तिष्क पूर्णतया सुगठित हो।

अपराधी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर यह भी पता चलता है कि उसमें सामान्यतः किसी भी एक मूल वृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाता है। अधिकतर काम और प्राप्ति की वृत्तियों का अत्यधिक विकास हुआ रहता है। कामातुर होने पर कामवृत्ति संबंधित असामाजिक तथा

अमानुषिक कार्य वह करता है। प्राप्ति की इच्छा तीव्र होने पर वह डाका डालने का उपक्रम करता है। इन वृत्तियों के

वृत्ति का अत्यधिक विकास

अतिरिक्त लड़ने (*Combativeness*) और आत्म-प्राधान्य (*Self-assertion*) की भी वृत्तियाँ तीव्र हो सकती हैं। जिस व्यक्ति में लड़ने की वृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाता है वह क्रोध में बावला हो दूसरे से बदला लेने के लिये बिना सोचे समझे गुरुतर अपराध कर बैठता है। आत्म-प्राधान्य की वृत्तिका अत्यधिक विकास होने पर उसकी रुचि का एक मात्र विषय अहं (*Ego*) हो जाता है। केवल मातृ-वृत्ति (*Maternal Instinct*) ही ऐसी एक वृत्ति है जिसका विकास समाज के लिये हानिकारक नहीं है। इससे दया तथा सहानुभूति का भाव उमड़ता है जो सामाजिक भाव की उत्पत्ति का सूचक है। इसका अत्यधिक विकास होने पर व्यक्ति केवल औत्सुक्य विकलता (*Anxiety Neurosis*) का आखेट हो सकता है।

बालक को अपराध के रोग से बचाने के लिये प्रारम्भ से ही इस प्रकार का प्रबंध रखना चाहिए कि वह अपनी किसी भी मूल वृत्ति में अत्यधिक लिप्त न होवे। एक दिशा में रुचि का अत्यधिक झुकाव होने पर उस इच्छा विशेष का वह दास बन जाता है और उसकी तुष्टि के लिये भले बुरे, उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रखता। संवेग के क्षणिक आवेग में जो जी चाहता है वह कर लेता है। इससे वह उग्र स्वभाव का हो जाता है और उसकी रुचि सीमित वस्तुओं में केन्द्रित हो जाती है। मनुष्य को अपनी शक्ति का सब दिशा में समान रूप से वितरण करना है, तभी उसका संवेग और उसकी क्रियाएँ समायोजित हो सकेंगी। उन्नयन होने पर मनुष्य असामाजिक कार्य नहीं करता।

अपराधियों में मानसिक दोष भी मिलता है। मानसिक दोष (*mental defectiveness*) का अर्थ है बुद्धि की कमी का होना। इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। वाइनलैंड में बालकों के लिये शिक्षा-संस्था है

जिसका कार्य उन पर प्रयोग करके यह बतलाना है कि किन बाल अपराधियों में सुधार संभव है। प्रयोग करने पर यह निष्कर्ष निकला

मानसिक दोष

कि सुधार उन्हीं बाल अपराधियों (*Juveniles*) में संभव है जिनमें किसी प्रकार का मानसिक दोष नहीं है। पैदायशी कमी होने पर संरक्षकता और आदान-प्रदान का प्रभाव नहीं पड़ता। साधारण रूप से मानसिक दोष के संबंध में तीन बातें ध्यान में रखनी हैं :—

(क) मानसिक दोष (*mental defectiveness*) सब वर्ग के अपराध का कारण नहीं है।

(ख) मानसिक दोष के सभी व्यक्ति अपराधी नहीं होते। यह निष्कर्ष न्यूयार्क स्टेट कमीशन के द्वारा निकाला गया है जो मानसिक दोष की परीक्षा लेने के लिये नियुक्त की गयी है।

(ग) मानसिक दोष (अल्प बुद्धि) स्वाभाविक दोष है। जिन अपराधियों में यह दोष होता है उनमें विशेष सुधार संभव नहीं रहता।

अपराधी प्रायः व्यंजित (*suggestible*) वर्ग के होते हैं। इच्छा-शक्ति (*Will*) दुर्बल होने के कारण जो कुछ किसी ने कहा वे उसको मान लेते हैं। भला है या बुरा, इसपर वे विचार नहीं

अनुचित निर्देशन

करते। अनुचित निर्देशन मिलने पर समाज की दृष्टि से निंदनीय कार्य भी करने में नहीं सकुचाते। मुखिया के निर्देशानुसार वे सब कार्य करते हैं।

अपराध के मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में अनुकरण का भी बहुत महत्व है। एक को चोरी करते या जेब काटते देखकर दूसरे की भी बान चोरी करने की पड़ती है। अपराध संक्रामक रोग की तरह

अनुकरण

समाज में फैल जाता है। इस कारण बालकों के सम्मुख अच्छा दृष्टान्त रखना चाहिये।

अपराध की पृष्ठ-भूमि का अध्ययन करने के बाद संक्षेप में यह कहा

जा सकता है कि अपराध की मुख्य मनोवैज्ञानिक बातें (*Psychological mechanisms*) निम्नलिखित प्रकार से हैं :

१. पैतृक विशेषता (*Hereditary characteristics*)

२. मानसिक दोष (*Mental defectiveness*)

३. प्रवृत्तिशीलता (*Natural impulsion*)

४. दमन की हुई इच्छाएँ (*Thwarted desires*)

५. गृह-असंघटन (*Family disorganization*)

६. असाधारण व्यक्तित्व (*Psychopathic personality traits*)

७. निर्धनता (*Poverty*)

अब प्रश्न यह उठता है कि अपराध का निवारण किस प्रकार किया जाय। सामान्यतः अपराधियों को दो वर्ग में बाँटा जाता है : एक, जिनका अपराध साधारण है, समाज के लिये विशेष हानिकारक नहीं; दो, जिनका अपराध संगीन है और समाज के लिये विषम है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से अपराधियों का वर्गीकरण केवल अपराध की तीव्रता पर नहीं, अपराधियों की आयु पर भी निर्भर है। इसलिये निम्न-लिखित वर्गीकरण हुआ :

(१) बाल अपराधी (*Juveniles*)।

(२) प्रौढ़ अपराधी (*Hardened criminals*)।

किन्तु इन दोनों वर्ग के अपराधियों में विभाजन की रेखा नहीं खीची जा सकती। आयु की दृष्टि से यह ठीक है; तीव्रता की दृष्टि से नहीं, क्योंकि बाल अपराधी संगीन अपराध कर सकता है और प्रौढ़ साधारण।

अधिकतर बाल अपराधी का अपराध साधारण होता है—छोटी-मोटी चीज़ चुराना, स्कूल से भागना और झूठ बोलना विशेष कर इनका अपराध है। १६ वर्ष तक बाल अपराधी समझे जाते हैं। इनमें अपराध करने की आदत नहीं पड़ी रहती। परिस्थिति से बाध्य होकर समझाने-बुझाने में आकर अपराध करते हैं।

प्रौढ़ अपराधी को असामाजिक कार्य का अभ्यास रहता है। वह बार-बार अपराध करता है। एक बार अपराध किया, जेल काटा, और फिर वही कार्य किया। उसका अपराध गुरुतर और समाज के लिये अहितकर होता है। उसमें सुधार करना आसान नहीं।

बाल अपराधी का हमें विशेष रूप से ध्यान रखना है। बालक का मन मोड़ा जा सकता है। उसके अपराध की यह प्रारम्भिक अवस्था है। उसने पहली या दूसरी बार अपराध किया है। अपराध करना उसका स्वभाव नहीं बन गया है। इस कारण समझा-बुझाकर थोड़े प्रयत्न से उसे ठीक रास्ते पर लाया जा सकता है। बाल अपराधी में सुधार करने के लिये बालापराधी न्यायालय (*Juvenile court*), परिवीक्षक प्रथा (*Probation system*) और चरित्रशोधशाला (*Reformatories*) की योजनाएँ निकाली गयी हैं।

पहली बात यह है कि बालअपराधी के लिए विशेष न्यायालय होना चाहिये। बाल अपराधी और प्रौढ़ अपराधी को दंड एक ही आधार पर नहीं दिया जा सकता। यों तो कठोर दंड हर-एक के लिये अहितकर है, अपराधी की मानसिक अवस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है; बालकों के लिये यह सर्वथा अनुचित है। बालक का मानसिक विकास स्थिर हो जाता है। बुद्धि मंद पड़ जाती है। यातना से मन में हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जाती है और वह अक्रियमाण हो जाता है। सुधार की कम संभावना रह जाती है। बालापराधी न्यायालय (*Juvenile court*) में बालक के मनोभाव के विकास और मन की स्थिति का पूर्ण ध्यान रखकर निर्णय दिया जाता है। निर्णय का उद्देश्य बाल अपराधी को ठीक रास्ते पर लाना है, जो कुछ बुरी आदत उसमें पड़ गई है उसे हटाना है और उसकी प्रकृत इच्छा का परिमार्जन करना है। पश्चिमी सभी देशों में बालकों के अपराध के निर्णय के लिये बालापराधी न्यायालय हैं। भारतवर्ष में भी कई

बालापराधी न्यायालय

प्रान्तों में इसकी नींव पड़ी है।

बालापराधी न्यायालय के न्यायाधीश के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक है। तभी वह अपराधी के मन की दशा समझकर निर्णय दे सकेगा। परिस्थिति से बाध्य होकर जिसने एक या दो बार अपराध किया है उसे निर्देशन से सुधारा जा सकता है।

दूसरी बात परिवीक्षक प्रथा (*Probation system*) के संबंध में है। बाल अपराधी को परिवीक्षक की संरक्षकता में रखना मानसिक परिवर्धन (*Mental transformation*) की दृष्टि से

परिवीक्षक प्रथा

बहुत लाभप्रद है। प्रायः परिस्थिति से मजबूर होकर बुरे संगी-साथी के फेर में बालक अपराध करता है। परिवीक्षक की देख-रेख में रख देने से बाल अपराधी सुधर जाता है।

बाल अपराधी पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालने के लिये परिवीक्षक में कुछ विशेषताएँ आवश्यक हैं : उसमें मानव स्वभाव के हर पहलू को समझने की क्षमता रहे, वह व्यवहार कुशल हो, समाज सुधारक हो और उसमें सहानुभूति, प्रेम और सोहार्द के भाव हों—तभी वह अपने और बाल अपराधी के बीच आत्मीयता का भाव स्थापित कर उसे सुधार सकता है। जबतक मानव की कमजोरियों तथा प्रकृत आवश्यकताओं को समझने की क्षमता परिवीक्षक में नहीं होगी, वह उचित और उपयुक्त निर्देशन नहीं दे सकता। वास्तव में उसे बाल अपराधी को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह बतलाना है कि मानव किस प्रकार अपनी प्रकृत मूल वृत्ति को उन्नत-परिमार्जित करके एक ओर अपने व्यक्तिगत जीवन को धनी बना सकता है और दूसरी ओर समाज की अवहेलना का पात्र बनने से अपने को बचा सकता है। वृत्ति का परिमार्जन हो जाने पर मानसिक शक्ति का व्यय असामाजिक क्रियाओं में नहीं किया जाता।

परिवीक्षक का कार्य, कुशल समाज-सुधारक की तरह, बाल अपराधी के परिवार के वातावरण का भी निरीक्षण करना है और समय-समय से शिक्षा

रूप में सुझाव रखना है जिससे कि वह स्थिति न रह जावे जो बालक को अपराध करने के लिये प्रोत्साहन देती हो। अन्यथा परिवीक्षक का चरित्र-शोध का प्रयास निष्फल जावेगा और बाल अपराधी के मन का झुकाव असामाजिक कार्यों की ओर बना रहेगा। बालक तो अधिकतर अनुकरण करता है; दूसरे की सीख में आ जाता है। साथ ही, प्रकृत इच्छा को ठेस लगते रहने पर उसके लिये निकृष्ट कार्य करना असंभव नहीं होता। जब परिवीक्षक को परिवार का वातावरण बहुत दूषित प्रतीत हो और उसमें किसी प्रकार का सुधार होना संभव न समझ पड़े तब उसे बाल अपराधी को ग्रह-वातावरण से हटाकर चरित्र-शोधशाला (*Reformatories*) में रखने का प्रबन्ध करना चाहिये।

संक्षेप में, परिवीक्षक का कार्य बाल अपराधी की मानसिक अवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करना, उसे उचित निर्देशन देना, तथा उसके गृह-वातावरण में सुधार करना है।

चरित्र शोधशाला

जिस प्रकार प्रौढ़ अपराधी के लिये कारागार हैं उसी प्रकार अब स्थान-स्थान पर बाल अपराधियों के लिये चरित्र-शोधशालाएँ (*Reformatories*) स्थापित की गयी हैं। इस संस्था का उद्देश्य बाल अपराधियों में मानसिक परिवर्धन (*Mental transformation*) लाना है। उन्हें शिक्षाप्रद वातावरण देना है। सुधार के लिये प्रोत्साहन मिलते रहने से वे अच्छा बनने की चेष्टा करने लगते हैं। बात यह है कि बाल्यावस्था में मनुष्य बड़ा लचीला होता है। थोड़े ही प्रयास से उसको जिधर चाहे मोड़ा जा सकता है। प्रकृत असुसंकृत इच्छा का मार्गान्तीकरण (*re-direction*) उपयुक्त शिक्षण द्वारा हो जाने से पुरानी आदतें छूट जाती हैं और उनका ध्यान बरबस सामाजिक कार्यों की ओर अग्रसर होने लगता है। अपनी उम्र के और बालकों का साथ होने से सहानुभूति, स्नेह तथा संघटन का भाव उत्पन्न होता है। हीनत्व का भाव भी नहीं रह जाता, यह कि

उसने बुरा आचरण किया है और इस कारण उसे यह दंड मिला है। संगीन अपराधी के साथ बाल अपराधी को कारागार में रखने से संभव है कि वह चालबाजी और धूर्तता सीखे।

बाल अपराधी संबंधी समस्याओं पर विचार करने के पश्चात् प्रौढ़ अपराधी के संबंध में प्रश्न उठता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनके सुधार के लिये अनियत कारागार अवधि (*Indeterminate sentence*), कारागारावकास (*Parole system*) और कारागार सुधार (*Reform in jails*) आवश्यक हैं। इस ओर ध्यान देने से न्याय-क्षेत्र में बहुत सुधार हो सकता है।

अनियत कारागार अवधि

दंड की अनियत अवधि (*Indeterminate sentence*) से अपराधी को सुधरने की प्रेरणा मिलती है। जब अपराधी को यह निश्चित रहता है कि उसे नियत समय तक कारागार में रहना ही है तब वह निराश हो जाता है। उसके मन में विचार उठता है 'अच्छा आचरण रखने से क्या लाभ है? मुझे तो वर्षों इसी प्रकार रहना है। सब प्रकार की यातनाएँ सहनी हैं। लंबे अरसे के बाद छूटने पर अपने सगे संबंधी से शायद मिल भी न सकूँ।' निष्क्रिय वर्ग के अपराधी इस प्रकार के विचार और भावना में डूबा-उतराया करते हैं। जो सक्रिय हैं वे दूसरे अपराधियों को विद्रोह करने के लिये उभारते हैं। प्रतिशोध की भावना और भी बली हो जाती है। परन्तु जब अवधि नियत नहीं रहती और कारागार में रहने का समय आचरण पर निर्भर करता है तब अपराधी सुधरने का प्रयत्न करता है। हर समय उसे बाह्य और आभ्यन्तरिक आश्वासन मिलता रहता है कि अच्छा आचरण रखने से उसे कारागार से रिहा कर दिया जायगा।

पाश्चात्य देशों में विषम अपराध करने पर भी अपराधी के लिये कारागार अवधि नियत नहीं रहती। न्यायाधीश, कुशल मनोवैज्ञानिक होने के कारण, यह भलीभाँति समझता है कि वास्तव में अपराधी का स्वभाव

परिवर्तन योग्य है। यद्यपि क्षणिक आवेश में वह अपराध कर बैठा है, वह मन मे पश्चाताप करेगा और अच्छा वातावरण मिलते ही सुधर जायगा।

कारागारावकास (*Parole*) की प्रथा होने पर प्रौढ़ अपराधियों के मन में यह आशा बँध जाती है कि अच्छा आचरण रखने पर उन्हे कारागार से कुछ समय के लिये छुट्टी मिल सकती है। इसमे दंड-अवधि पूरी होने के पहले ही उन अपराधियों को, जिनमे सुधार के चिन्ह मिलते है, जेल अधिकारियों के निगरानी में कारागार से रिहा कर दिया जाता है। यह एक प्रकार से अपराधी की आचरण-परीक्षा है। सुविधा यह है कि अवकास (*Parole*) पर यदि अपराधी ने अच्छा आचरण और व्यवहार रखा और दूसरों को हानि न पहुँचाई तो वह कारागार से मुक्त कर दिया जाता है।

कारागारावकास

कारागार-सुधार के संबंध मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी रूप-रेखा मानसिक चिकित्सालय की तरह होनी चाहिये। कारण यह है कि संगीन और प्रौढ़ अपराधी की मानसिक अवस्था बहुत कुछ मानसिक रोग से त्रस्त रोगी की सी होती है। इसका पहले भी उल्लेख हो चुका है। जिस प्रकार विश्लेषक का कार्य विक्षिप्त व्यक्तिके गूढ़ स्तर की गुत्थी खोलना है उसी प्रकार कारागार के अधिकारी का कार्य भी अपराधी की मानसिक स्थिति को समझना है। जब वह अपराधी की मानसिक अवस्था समझ जाता है तब वह उचित सूझ-सुझाव देता है। कारागार के अधिकारी को अपना रुख अपराधियों के प्रति एक चिकित्सक का सा रखना है। उसमें अपराधियों के प्रति सदैव सहानुभूति का भाव रहे, तभी सुधार संभव है और उनकी मानसिक अवस्था का परिवर्धन होगा। एकबार मानसिक परिवर्धन होने से संभव है उनके मनका झुकाव अपराध की ओर फिर न जाय। कारागार के वातावरण में सुधार होने से अपराधियों

कारागार सुधार

की मानसिक अवस्था पर स्वास्थप्रद प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव एक-बारगी नहीं पड़ता। धीरे-धीरे उनका जीवन के प्रति रुख बदल जाता है। विशेषकर सुधार उन अपराधियों में होता है जिन्होंने क्षणिक आवेश में क्रोध-प्रतिशोध के भाव से प्रेरित होकर और परिस्थिति से वाध्य होकर अपराध किया है। जो अपराधी हठीले स्वभाव के हैं, जिनमें अपराध करने की प्रकृत वासना है उनपर कारागार के उत्कृष्ट वातावरण का भी प्रभाव नहीं पड़ता। इनपर अधिकारी वर्ग का मानसिक परिवर्धन का प्रयास प्रायः विफल जाता है।

न्याय के संबंध में मनोविज्ञान के अनुसंधान और धारणाएँ अपराधी के स्वभाव के अध्ययन, अपराध के कारण और निवारण के अन्वेषण और अपराध की पृष्ठभूमि तक सीमित नहीं हैं। पंच और न्यायाधीश के संबंध में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। पंच और न्यायाधीश का कार्य अपनी पैनी दृष्टि से अपराधी कौन है इसका निर्णय देना है। यदि निर्णय ठीक नहीं हुआ तो निरपराध अपराधी और अपराधी निरपराध प्रमाणित होगा। निर्णय की समस्या प्रारम्भिक समस्या है। यदि निर्णय में भूल हुई तो सुधार की सब योजना निष्फल है।

पंच

कुछ विशेष प्रकार के मुकदमों में निर्णय देने के लिये कुछ सदस्यों को नियुक्ति होती है। इन सदस्यों के समुदाय को 'पंच' (*Jury*) कहते हैं। पंच-प्रथा सब देशों में प्रचलित है। किन्तु सदस्यों की संख्या समान नहीं रहती। कहीं ३ सदस्यों की नियुक्ति पंच में होती है, कहीं ५, कहीं १२ और कहीं ४१। इनका अधिकार करीब-करीब सभी जगह समान होता है। मुकदमा सुनने के बाद पंच के सब सदस्य एक पृथक् कमरे में मिलते हैं और अपनी मत प्रकट करते हैं। एक मत रहा तो कोई प्रश्न नहीं; जब नहीं रहता तब जो कुछ बहुमत से निश्चित

होता है वह न्यायाधीश से कह दिया जाता है। यह भी कि प्रत्येक पक्ष में कितने मत हैं। पंच से सहमत रहने पर न्यायाधीश निर्णय तुरत दे देता है। जब मतभेद होता है तब वह मुकदमे को बड़ी कचहरी में निर्णय के लिये भेज देता है। न्यायाधीश को पंच के विरुद्ध निर्णय देने का अधिकार नहीं होता।

पंच के सदस्यों की नियुक्ति में अधिकारीवर्ग को विशेष सजग रहना चाहिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि हरएक सदस्य में विश्लेषणात्मक शक्ति हो जिससे कि वह वास्तविक स्थिति का ज्ञान कर और गवाहों के मन की बात समझ कर अपना निर्णय दे, उसमें अन्तर्ज्ञान(*Intuition*)और तीव्र इच्छा-शक्ति भी हो जिससे उसके मन में प्रेरणा उठे और वह अपराध का निर्णय ठीक दे सके। दूसरे शब्दों में पंच के हरएक सदस्य को कुशल मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और अनुभवी व्यापारी होना चाहिये। कुशल मनोवैज्ञानिक होने पर उसे अभियोगी की मानसिक स्थिति स्पष्ट हो जायगी—अभियोगी और गवाह का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके वह अपराधी का पता लगा लेगा। दार्शनिक होने पर तर्क-वितर्क के पश्चात् अपना निर्णय देगा—किसी घटना विशेष से प्रभावित हो क्षणिक आवेश में नहीं। अनुभवी व्यापारी होने पर कूटनीति और चालबाजी की बातें वह सहज ही समझ जायगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पंच-प्रथा की सम्पूर्ण कार्यवाही दो भागों में बाँटी गई हैं: पहले भाग में पंच के सदस्यों की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं (*individual reactions*) के बारे में अध्ययन किया गया है और दूसरे में पंच के सामूहिक निर्णय के मूल्य पर विचार किया गया है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वेल्ड और राफ़ तथा वेल्ड-डानज़िग ने पंच के सदस्यों की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया। विवरण देखने से पता लगता है कि एक सदस्य की प्रतिक्रियाएँ दूसरे सदस्य की प्रतिक्रियाओं से भिन्न होती हैं। कारण यह है कि मानव में वैयक्तिक भेद (*Individual*

difference) होता है। वेल्ड और राफ़ ने प्रयोग को ३० हिस्सों में बाँटा और हरएक के अंत में, जो एक घंटे में समाप्त होता, पंच के सदस्य को हाँ या नहीं करना पड़ता। यह प्रयोग न्यायालय के कार्य-व्यवस्था के अनुरूप नहीं था। किन्तु वेल्ड-डानज़िग के प्रयोग में व्यवस्था बहुत कुछ न्यायालय की कार्य-व्यवस्था की तरह होता है। जिस प्रकार न्यायालय में जज, गवाह और पंच होते हैं उसी प्रकार पंच के सदस्यों की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का विवरण लेने के प्रयोग में जज, गवाह इत्यादि रहते हैं।

'सामूहिक निर्णय' कई व्यक्तियों का मिल कर निर्णय है। यह 'व्यक्तिगत निर्णय' से अधिक महत्व का है। प्रश्न उठते हैं: क्या कई व्यक्तियों के मिलकर निर्णय देने से आकस्मिक भूल होने की संभावना कम रहती है? किसी व्यक्ति में दूसरे के निर्णय पर विचार करने की और सहमत न होने पर उसे प्रभावित करने की शक्ति कहाँ तक है? निर्णय पर वाद-विवाद का क्या प्रभाव पड़ता है? प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मुन्स्टरबर्ग के दृष्टिकोण से सामूहिक वादविवाद से मनुष्य की व्यक्तिगत निर्णय-शक्ति सुधरती है। बुद्धि तीव्र हो जाती है और मस्तिष्क निष्क्रिय न रह कर सक्रिय हो जाता है। मुन्स्टरबर्ग की तरह बेकट्रियु और डीलैंग ने भी सामूहिक निर्णय को अधिक महत्व दिया है। पर इस धारणा का खण्डन हुआ। मुन्स्टरबर्ग के शिष्य बर्ट ने प्रयोग के आधार यह प्रमाणित किया कि सामूहिक वादविवाद का व्यक्तिगत निर्णय-शक्ति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बर्ट के समर्थन में मारसटन ने यहाँ तक कहा है कि किसी भी समस्या पर व्यक्तिगत निर्णय सामूहिक निर्णय से अधिक उत्तम होता है।

वास्तव में कुछ स्थिति-विशेष में सामूहिक निर्णय अधिक उपयुक्त होता है और कुछ में व्यक्तिगत। जिस व्यक्ति में तीव्र इच्छाशक्ति (*Will*), बुद्धि (*Intelligence*) और अन्तर्ज्ञान (*Iutuition*) की शक्ति हैं उसका व्यक्तिगत निर्णय उच्च कोटि का होगा। जिनमें ये विशेषताएँ नहीं हैं वे एक

साथ मिलकर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते है। सामान्य रूप से सामूहिक निर्णय अधिक मूल्य का है। इसी कारण राजनीतिक क्षेत्र मे प्रजातंत्र राज्य की माँग रखी गयी। परन्तु सामूहिक निर्णय तभी उत्कृष्ट होगा जब इसके सब सदस्यों मे व्यक्तिगत निर्णय देने की तीव्र शक्ति होगी। पंच की सफलता सब सदस्यों के व्यक्तिगत निर्णय की शक्ति पर निर्भर है।

न्यायाधीश

पंच प्रथा (*Jury*) का उल्लेख करने के पश्चात् न्यायाधीश के संबंध मे प्रश्न उठता है। न्यायाधीश का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का अर्थ है उसके रुख (*attitude*) अनुभव (*experience*) रुचि (*interest*) और अभ्यास (*habit*) का पता लगाना। निर्णय बहुत कुछ न्यायाधीश के स्वभाव और उसके जीवन के सिद्धान्तों पर निर्भर है, बाह्य-प्रमाण (*objective evidence*) भले ही कुछ हो। यह बात सामान्य अनुभव की है। किन्तु अभी तक कोई ऐसा नया यंत्र नहीं निकला है जिससे यह निश्चित किया जा सके कि न्यायाधीश का निर्णय किस हद तक उसकी रुचि, धारणा और उसके अनुभव से प्रभावित है। इस संबंध में भी वैयक्तिक भेद (*Individual difference*) का प्रश्न ध्यान मे रखना है। सभी न्यायाधीश का स्वभाव समान नहीं होता। इस कारण संभव है कि हरएक न्यायाधीश का निर्णय पृथक्-पृथक् हो। जिसमे दया, सहानुभूति, सौहार्द तथा जीवन के प्रति राग के भाव रहते हैं, वह निर्णयमे उदार होता है; जिसका स्वभाव इस प्रकार का नहीं रहता, वह कठोर निर्णय देता है। कुछ न्यायाधीश मध्यम श्रेणी के रहते हैं, निर्णय में न उदार और न कठोर। न्यायाधीश के व्यक्तिगत स्वभाव और निर्णय में क्या सम्बन्ध है इसपर इवरसन और जैनडेट ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से न्यायाधीश और पंच के लिये साक्षी (*witness*) की मनः स्थिति के बारे मे पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। साक्षी अपने विवरण में प्रायः सत्य को असत्य और असत्य को सत्य

बतलाता है क्योंकि बहुधा उसको समझा-बुझाकर साक्षी का कार्य करने के लिये तैयार कर लिया जाता है। साक्षी ने विवरण कहाँ

साक्षी

तक सत्य दिया है इसके लिये मनोवैज्ञानिकों ने एक नये यंत्र की खोज की है जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि बयान कहाँ तक सत्य है और कहाँ तक उम्र, जाति, बुद्धि, समयावकास और निर्देशन से रंगा है। इस संबंध में कैटेल, बिने और स्टर्न के प्रयास मार्के के हैं। प्रश्न उठा : क्या साक्षी अन्य साधारण व्यक्तियों की तरह है या उसकी निजी विशेषताएँ (*individual traits*) हैं ? यह प्रश्न विशेषकर उस स्थिति में उठता है जब साक्षी विपरीत बातें करना प्रारम्भ करता है, परिस्थिति गंभीर होती है और साक्षी की बातों से आभास मिलता है कि वह झूठ बोल रहा है। वास्तव में साक्षी की अपनी मानसिक विशेषताएँ होती हैं। हरएक साक्षी अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुसार विवरण देता है। इस कारण न्यायाधीश और पंच को साक्षी के विवरण में विश्वास करने के पहले उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

साक्षी के बयान के संबंध में न्यायाधीश और पंच को विशेष रूप से ज्ञानेन्द्रिय विकृति, निर्णय में भूल, स्मृति-दोष और निर्देशन-प्रभाव का ध्यान रखना चाहिये। कभी-कभी साक्षी अपने बयान में इस प्रकार की बातें करता है जो इन्द्रिय-ज्ञान के परे की हैं, अथवा ज्ञानेन्द्रिय-विकृति का परिणाम हैं। कभी यह दृश्य संबंधी होता है, कभी श्रवण और कभी स्पर्शन। हिर्सबर्ग ने दृश्येन्द्रिय विकृति (*distortion of visual perception*) का उदाहरण दिया है। एक बार हत्या के अभियोग में एक निरपराध व्यक्ति पकड़ा गया। साक्षी ने न्यायाधीश को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वह हत्यारे को स्पष्ट पहचान रहा है। उसने उसे हत्या करते समय देखा था। और भी प्रमाण होने से न्यायाधीश ने साक्षी की बातों का विश्वास कर लिया और अभियोगी को प्राण दंड दिया। जब इस मुकदमे की

अपील ऊपर न्यायालय में की गयी, वह निरपराध साबित हुआ। बात यह थी कि इतनी दूरी से ऐसी धुँधली रोशनी में साक्षी के लिये अभियोगी को हत्या करते हुये देखना किसी प्रकार भी संभव नहीं था। यदि साक्षी ने साक्षात् नहीं देखा तो उसका पूरा विवरण कि वह उसे भली-भाँति पहचान रहा है बिल्कुल ही निराधार था।

विलियम जेम्स ने व्यक्तिगत अनुभव से श्रवणेन्द्रिय विकृति (*distortion of auditory perception*) का रोचक उदाहरण दिया है :

"रात्रि के समय वह अध्ययन में व्यस्त था। एकाएक उसे मालूम हुआ कि मकान के ऊपरी भाग से कोई भयंकर आवाज़ आई। कुछ देर बाद आवाज़ बंद हो गयी। फिर सुनाई पड़ने लगी। यह जानने के लिये कि आवाज़ किधर से आई और क्यों आई, वह बड़े कमरे में गया। वहाँ उसे कुछ भी नहीं मिला और आवाज़ भी बंद हो गयी। अपने कमरे में लौटकर पुस्तक हाथ में लिया ही था कि पुनः आवाज सुनाई पड़ी। एक दफा फिर बड़ा कमरा खोज डाला। कुछ भी नहीं मिला। अपने कमरे की खोज करने पर जब उसे यह पता लगा कि आवाज़ उसके चारपाई के नीचे सोये स्काच कुत्ते की थी, उसके आश्चर्य्य का ठिकाना न था।"

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी बाह्य वस्तुओं का अनुभव विकृत रूप में करती है। इस कारण साक्षी के विवरण पर विचार करते समय न्यायाधीश के लिये इन्द्रियों की शक्ति-सीमा का ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रायः साक्षी अपने निर्णय में भूल करने से बयान गलत देता है। निरपराध को अपराधी और अपराधी को निरपराध समझकर गवाही देता है। इस बात का ध्यान न्यायाधीश और पंच को रखना है।

कभी स्मृति-शक्ति में दोष (*falliability of memory*) होने के कारण भी साक्षी झूठा बयान देता है। साक्षी का यह बयान कि उसने अभियोगी को १३ जून की शाम को स्टेशन पर देखा था जब कि वास्तव में

वह उस दिन अपने मित्र के मकान पर आवाभगत में लगा था स्मृति-दोष के कारण समझा जायगा।

साक्षी का विवरण निर्देशन से भी प्रभावित रहता है। दूसरे के समझाने-बुझाने में आकर बयान में कुछ भी कहने के लिये वह तैयार हो जाता है। बात यह है कि कुछ व्यक्तियों में अपनी इच्छा-शक्ति कम होती है। जो कुछ किसी ने कहा आसानी से मान लिया। इसको प्रमाणित करने के लिये म्युज़िकों ने चल चित्रों (*Motion pictures*) का प्रयोग किया। पहले साक्षियों को चित्र दिखलाये गये, इन्हीं चित्रों के आधार पर प्रश्न बनाये गये और उनसे प्रश्नों को पूछा गया। सब प्रश्न व्यंजनात्मक (*suggestive*) थे। कुछ साक्षियों ने प्रश्नों का ठीक जबाब दिया, कुछ ने भूल की और कुछ ने इधर-उधर की बातें की। प्रश्नों के पूछने पर साक्षियों ने जो कुछ प्रत्योत्तर दिये उनसे उनकी विशेषता का पता लगा और यह भी कि वे कहाँ तक दूसरों के निर्देशन से प्रभावित हुये हैं। प्रयोग के लिये बर्ट और गासकिल ने भी विद्यार्थियों के एक समूह को चलचित्र दिखलाया और बाद में उन्हीं चित्रों के आधार पर प्रश्न पूछे। ये प्रश्न म्युज़िकोंके बनाये प्रश्नों की ही तरह थे।

अब विचार यह करना है कि अपराध का माप (*criterion*) क्या है? अपराध वास्तव में कार्य पर नहीं निर्भर करता, इच्छा-प्रयोजन (*Intention*) पर निर्भर करता है। दूसरे की कोई वस्तु चुपचाप ले लेना चोरी करना है; यदि चुराने का विचार किये बिना ही उसे जेब में रख लिया तो यह चोरी करना नहीं है। किसी व्यक्ति पर यह जान कर निशाना साधना कि बंदूक में गोली भरी है, अपराध करना है; यदि भूल से हाथ ट्रिगर पर पहुँच जाय और बंदूक चल जाय तो यह अपराध नहीं है। अपराध जान-बूझ कर किया जाता है। मनुष्य पर उन्हीं क्रियाओं का दायित्व है जो प्रयोजन से की गयी हैं।

इच्छा-प्रयोजन दो प्रकार का होता है: साधारण इच्छा-प्रयोजन

(*Simple Intention*) और प्राग् विनिमय इच्छा-प्रयोजन (*Premeditated Intention*) । साधारण इच्छा-प्रयोजन होने पर अपराध साधारण होता है । लंबी योजना बनाने पर जो अपराध किया जाता है वह बहुत भयंकर होता है । हत्या प्राग् विनिमय इच्छा-प्रयोजन के परिणाम में की जाती है ।

मनोश्लिेषण की दृष्टि से अपराधियों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है ।

१. आत्मसम्मोही अपराधी (*Criminals of narcisstic type*) : ये स्वभाव से एकांतप्रिय और स्वार्थी होते हैं । व्यक्तिगत लाभ के लिये निम्न से निम्न कार्य करने के लिये तैयार हो जाते हैं । विशेषता यह है कि कार्य सोच समझकर करते हैं, आवेश में नहीं ।

२. असाधारण अपराधी (*Criminals of Neurotic type*) : ये क्षणभर के आवेग-आवेश में अपराध कर बैठते हैं । सोच-विचार कर तर्क-वितर्क के पश्चात् प्रहार नहीं करते । इनमें बहु व्यक्तित्व (*Multiple personality*) होता है । मन में तीव्र भावना-ग्रन्थियाँ पड़ी रहती हैं । आभ्यन्तरिक संघर्ष के कारण ये अपराधी बन जाते हैं ।

३. बहिर्मुख अपराधी (*Criminals of Extrovert type*) : इनका लक्ष्य अपने को लाभ पहुँचाना है । गुट बनाकर दूसरों को हानि पहुँचाने की योजना बनाते हैं ।

इन तीनों वर्गों के अपराधियों में असाधारण वर्ग के अपराधी पर मनोविश्लेषण में विशेष रूप से अध्ययन हुआ है ।

इस प्रकार मनोविज्ञान के प्रयोग और सिद्धान्त के आधार पर न्याय-क्षेत्र संबंधी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है । समाज का ध्येय मानव की मनःस्थिति में सुधार कर अपराध का निवारण करना है ।

मनोविज्ञान और उद्योग

जिस प्रकार शिक्षा, उपचार और न्याय-क्षेत्र की समस्याओं को सुलझाने में मनोविज्ञान सहायक है उसी प्रकार उद्योग-क्षेत्र के संबंध में भी इसकी युक्तियाँ उपयोग की हैं। उद्योग की समस्याएँ मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हैं। उद्योग में मनोविज्ञान का अत्यधिक प्रयोग होने से औद्योगिक मनोविज्ञान (*Industrial Psychology*) की शाखा निकली। वास्तव में यह व्यावहारिक मनोविज्ञान का प्रमुख भाग है।

औद्योगिक मनोविज्ञान बीसवीं शताब्दी की देन है। इसके पहले उद्योग-क्षेत्र में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग कतिपय हो जाता था; इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित नहीं हुआ था। अब औद्योगिक समस्याएँ वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन की जाने लगी हैं। औद्योगिक मनोविज्ञान में मनुष्य की उन क्रिया-व्यापारों का अध्ययन किया जाता है जिनका संबंध व्यवसाय से है। अर्थात्, अपने शरीर और मस्तिष्क से जीविका के लिये मनुष्य जो कुछ उद्यम करता है वह औद्योगिक मनोविज्ञान का विषय है। औद्योगिक मनोविज्ञान का क्षेत्र वृहत है। इसकी समस्याएँ निम्नलिखित प्रकार हैं :

१. किसी श्रमिक के लिये व्यवसाय निर्धारित करना—यह बतलाना कि उसमें किस प्रकार के कार्य करने की बुद्धि और अभिरुचि है।

२. किसी व्यवसाय के लिये उपयुक्त श्रमिक की नियुक्ति करना जिससे व्यवसाय अधिक से अधिक क्षमता और कुशलता से किया जा सके।

३. कार्य की व्यवस्था इस प्रकार रखना जिससे श्रमिक मन और शरीर से अधिक से अधिक गति से कार्य करे और कम से कम थकान का अनुभव होवे।

४. कार्य-विश्लेषण (*Job-analysis*) करना जिससे यह मालूम हो सके कि अमुक कार्य के लिये अमुक विशेषता अनिवार्य है।

५. निरीक्षण-विधि में सुधार करना।

६. समय-समय से श्रमिक की योग्यता की परीक्षा लेकर कार्य की गति का विवरण रखना और योग्यता अंकन लेना।

७. कल कारखानों का वातावरण इस प्रकार का रखना जिससे श्रमिक और पूँजीपति में सहानुभूति का संबंध रहे।

८. जिस कार्य-विशेष में रुचि न हो उसकी भी व्यवस्था इस प्रकार करना कि रुचि उत्पन्न हो जाय।

९. कल कारखानों में श्रमिक की कार्य-क्षमता में वृद्धि के लिये दवा, रोशनी इत्यादि की व्यवस्था ठीक रखना।

१०. प्रभावशाली विज्ञापन करना। विक्रेता में सभी आवश्यक गुण का रहना।

संक्षेप में मनोविज्ञान की दृष्टि से उद्योग की समस्याएँ साधारणतः चार भागों में बाँटी जा सकती हैं :

(क) व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*)

(ख) व्यावसायिक चुनाव (*Vocational Selection or Employment*)

(ग) उद्योग और कार्य क्षमता (*Work & Efficiency*)

(घ) व्यापार (*Business*)

यह विभाजन औद्योगिक मनोविज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को ढकने के लिये पर्याप्त है। इनका विस्तार से उल्लेख करने के पहले व्यावसायिक सामञ्जस्य (*Vocational adjustment*) की समस्या पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

व्यावसायिक सामञ्जस्य

जीवन के हरएक क्षेत्र में सामञ्जस्य की समस्या उठती है। शिक्षा, उपचार और अपराध-क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ सामञ्जस्य की समस्या है। सामञ्जस्य सामाजिक और

वैवाहिक जीवन में ही नहीं, व्यावसायिक जीवन में भी आवश्यक है। सामञ्जस्य रहने से ही कठिनाई पड़ने पर मनुष्य भावोन्मेष नहीं होता।

व्यावसायिक सामञ्जस्य का प्रश्न उठने का कारण वैयक्तिक भेद (*Individual difference*) और श्रम-विभाजन (*division of work*) हैं। यदि सब व्यक्ति में सब प्रकार के कार्य करने की योग्यता समान होती तो व्यावसायिक असामञ्जस्य का प्रश्न न उठता। कोई कार्य किसी व्यक्ति के हिस्से आ जाता और वह उसे उतनी ही योग्यता से निपटाता जैसे दूसरा व्यक्ति। किन्तु अभिरुचि (*Aptitude*) और बुद्धि (*Intelligence*) में पृथक्ता होने के कारण एक व्यक्ति एक वर्ग के व्यवसाय करने के योग्य है और दूसरा व्यक्ति दूसरे वर्ग के। संभव है कि वह बुद्धि की कमी के कारण बौद्धिक कार्य (*Intellectual work*) न कर सके और हाथ का कार्य (*Manual work*) सरलता से कर ले। जिस प्रकार एक त्रिभुजाकार में चौकोर और गोलाकार काठ के टुकड़े नहीं बैठ सकते, एक उसी आकार और नाप का टुकड़ा बैठेगा, उसी प्रकार एक व्यवसाय विशेष के लिये वह व्यक्ति उपयुक्त होगा जिसमें उस व्यवसाय को करने की विशेषता है। इस कारण व्यावसायिक सामञ्जस्य लाने के लिये यह निश्चित किया गया कि किसी व्यक्ति को वही कार्य करने के लिये दिया जाय जिसके लिये उसमें अभिरुचि और बुद्धि हो।

इधर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास के कारण श्रम-विभाजन भी हुआ। सभ्यता के विकास के पहले मानव-जीवन सरल था, आवश्यकताएँ थोड़ी थीं, और जो थीं उनकी पूर्त्ति मनुष्य निजी उद्यम से कर लेता। भूख लगने पर वह जंगल से फल-फूल लाकर क्षुधा शांत करता। पत्तों से शरीर ढकता। यह प्रथा नहीं थी कि एक व्यक्ति भोज्य पदार्थ उत्पन्न करे और दूसरा कारखानों में कपड़ा बुनने का कार्य। खेती-बारी की प्रथा चलने पर भी सब व्यक्तियों का जीवन करीब-करीब अपने में पूर्ण था; अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये वे दूसरों पर निर्भर

नहीं करते थे। किन्तु अब मनुष्य आश्रित हो गया है। उसका जीवन अपने में पूर्ण नहीं रहा, वह दूसरों पर निर्भर करने लगा है। आदान-प्रदान से सब कार्य चलता है। कुछ व्यक्ति भोज्य पदार्थ का प्रबन्ध करते हैं, कुछ वस्त्र का, और कुछ अन्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये अन्य कार्य। केवल यही नहीं, औद्योगिक क्रान्ति के बाद से प्रत्येक वर्ग के व्यवसाय मे भी भाग हो गये है; एक भाग एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह करता है और दूसरा भाग दूसरा व्यक्ति या दूसरा समूह। श्रमिक के सम्मुख सब वर्ग के व्यवसाय है और उसका कार्य अपनी अभिरुचि और योग्यता के अनुकूल कार्य चुनना है—या तो उस कार्य को करने की उसमें पैदायशी प्रतिभा हो या उसने शिक्षा से सीखा हो। कार्य में कुशल होनेपर ही वह उसे सफलता से कर सकेगा।

इस प्रकार श्रम-विभाजन की प्रथा के प्रारम्भ होते ही व्यावसायिक सामञ्जस्य (*Vocation l adjustment*) का प्रश्न उठा। व्यावसायिक सामञ्जस्य की समस्या व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) और व्यावसायिक चुनाव (*Vocational Selection*) की समस्याएँ हैं।

व्यावसायिक निर्देशन के संबंध में पहला प्रयोग 'नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ इनडसट्रियल साइकॉलजी' ने निकाला। इसके पहले श्रमिक अपनी बुद्धि और अभिरुचि (*Aptitude*) की ओर बिना ध्यान दिये जिस व्यवसाय को करने के लिये वातावरण से बाध्य किया जाता, वह व्यवसाय करता और इससे विशेष हानि होती। एक तो बिना सोचे-समझे कार्य करना प्रारम्भ करने से वह उस कार्य विशेष मे अयोग्य सिद्ध होता और दूसरे उसकी व्यक्तिगत पैदायशी प्रतिभा उपयोग में न लाने से लुप्त हो जाती। व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) का अर्थ है श्रमिक की बुद्धि और अभिरुचि की परीक्षा लेकर उसे यह निर्देशन

व्यावसायिक निर्देशन

देना कि वह किस प्रकार के व्यवसाय की शिक्षा पाने के योग्य है या वह किस व्यवसाय को सफलता से कर सकता है। बात यह है कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् बुद्धि-मात्रा होती है और पृथक्-पृथक् व्यवसाय करने के लिये पृथक्-पृथक् परिमाण में बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। जो अल्प-बुद्धि हैं, जिनकी बुद्धि-मात्रा ७० या इससे भी कम है उनके लिये विद्यालय में शिक्षा देना, राज्य-शासन में भाग लेना संभव नहीं है। बढ़ई, लोहार का कार्य सफलता से कर सकते हैं। बौद्धिक कार्य के लिये तीव्र-बुद्धि (बुद्धि-मात्रा १०० हो या इससे अधिक) आवश्यक है। निम्नलिखित खाका से, जो बर्ट के अनुसार बनाया गया है, यह स्पष्ट हो जायगा कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लिये किस परिमाण में बुद्धि-मात्रा की आवश्यकता पड़ती है :

बुद्धि-विवरण

बुद्धि-मात्रा	बाल-संख्या प्रतिशत	व्यवसाय-वर्ग	प्रौढ़-संख्या प्रतिशत
१—१५० या अधिक	०·२	उच्चतम वर्ग का शासन-कार्य	०·१
२—१३०-१५०	२·०	उच्चतर विशेष कार्य (*lower professional & technical work*)	३·०
३—११५-१३०	१०·०	उच्च कार्य (*clerical orhighly skilled work*)	१२·०
४—१००-११५	३८·०	कुशल कार्य	२६·०
५—८५-१००	३८·०	अर्द्ध कुशल कार्य	३३·०
६—७०-८५	१०·०	निर्बुद्धि कार्य	१६·०
७—५०-७०	१·५	मेहनत मजूरी का कार्य	७·०
८—५० से कम	०·२	सांस्थायिक विषय	०·२

बुद्धि-परीक्षा पर 'शिक्षा और मनोविज्ञान' के अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसी प्रकार श्रमिक की अभिरुचि (*Aptitude*) संबधी परीक्षाओं पर भी व्यावसायिक निर्देशन के प्रसग मे प्रकाश डालना है। अभिरुचि संबंधी परीक्षाएँ निम्नलिखित प्रकार है :

चित्र-निर्माण परीक्षा

चित्र-निर्माण परीक्षा (*Picture Construction Test*) से किसी व्यक्ति की रचनात्मक (*constructive*) और संश्लेषणात्मक (*synthetic*) शक्ति का पता लगता है। इसमे प्रयोग-पात्र को काष्ठ के टुकड़े सख्या मे ६, ८ या १२, जैसे जटिल खड किये गये हो, दिये जाते है। सब टुकड़ो को बैठाने से चित्र बनता है। प्रयोग-पात्र को चित्र देखकर टुकड़ों को इस प्रकार बैठाना पड़ता है कि चित्र पूरा बन जाय। जिस व्यक्ति मे रचनात्मक शक्ति अधिक होती है वह कम समय मे चित्र बना लेता है: उसे टुकड़ों का उलट फेर अधिक नहीं करना पड़ता—एक बार रखा और ठीक हो गया; जिसमे यह साम्मर्थ नहीं रहती उसे अधिक समय लगता है और कभी तो बहुत प्रयास करने पर भी वह पूरा नहीं कर पाता। कम समय मे खडों को जोड़ कर चित्र बना देने का अर्थ है कि प्रयोग-पात्र रचनात्मक कार्य करने के योग्य है। जिस व्यवसाय मे इस विशेषता की आवश्यकता पड़ती है और यह विशेषता किसी व्यक्ति विशेष मे है तब उस व्यवसाय की शिक्षा मिलने पर वह व्यक्ति-विशेष अपना कार्य कुशलता से कर सकेगा।

कोह की ब्लौक डिज़ाइन परीक्षा

कोह की ब्लौक डिज़ाइन परीक्षा (*Koh's Block Design Test*) में प्रयोग-पात्र को एक कार्डबोर्ड और १६ रंगे हुये क्यूब्स् दिये जाते है। कार्डबोर्ड पर १० डिज़ाइन बनी रहती है। पहली डिज़ाइन सबसे सरल, फिर कठिन और आखरी सबसे कठिन रहती है। प्रयोग-पात्र को यह आदेश दिया जाता है कि वह कार्डबोर्ड पर बनी हुई डिज़ाइन की

तरह क्यूब्स् मिलाकर डिज़ाइन बनावे। डिज़ाइन बनाने में प्रयोग-पात्र को जो समय लगता है उसका विशेष महत्व है। जो व्यक्ति ३ मिनट में ४ डिज़ाइन बनाता है, वह प्रथम श्रेणी का है; उसी समय में ३ डिज़ाइन बनानेवाला व्यक्ति द्वितीय श्रेणी और दो बनाने वाला तृतीय श्रेणी का समझा जाता है। इस परीक्षा से भी किसी व्यक्ति की विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक शक्ति का पता लगता है।

अलेग्ज़ेन्डर की पास अलौंग परीक्षा

अलेग्ज़ेन्डर की पासअलौङ्ग परीक्षा (*Alexander Passalong Test*) से प्रयोग-पात्र की व्यावहारिक योग्यता का पता लगता है। इसमें काठ के रंग-विरंग के लाल नीले टुकड़े लकड़ी के फ्रेम में रखकर प्रयोग-पात्र को दिया जाता है। टुकड़े फ्रेम में क्रम से सजाये रहते हैं। प्रयोग-कर्त्ता यह आदेश देता है कि प्रयोग-पात्र इन टुकड़ों को खिसकाकर निश्चित समय में डिज़ाइन बनावे। इसके लिये आठ डिज़ाइन सरल, कठिन और फिर उससे कठिन के क्रम में बनी रहती हैं।

पैटर्न ड्राइंग परीक्षा

पैटर्न ड्राइंग परीक्षा (*Pattern Drawing Test*) से प्रयोग-पात्र की चक्षु-प्रतिमा (*Visual Imagery*) की माप की जाती है। इसमें प्रयोग-कर्त्ता का यह आदेश रहता है कि प्रयोग-पात्र बिना पेंसिल हटाये किसी भी रेखा को बिना दुहराये पैटर्न पूरा कर दे। पैटर्न आठ प्रकार के होते हैं और ये क्रम में रहते हैं : पहला सबसे सरल और आखरी सबसे कठिन। जिसमें विश्लेषणात्मक शक्ति रहती है वह एकबारगी ठीक बिंदु का पता लगा लेता है जिससे रेखा दुहरानी नहीं पड़ती; जिसमें विश्लेषणात्मक शक्ति नहीं रहती वह ठीक बिंदु का पता नहीं लगा पाता और उसे पैटर्न पूरा करने में रेखा दुहरानी ही पड़ती है।

इन परीक्षाओं से किसी व्यक्ति की सामान्य कार्य करने की विशेषता का पता लगता है। विशेष-कार्य करने की विशेषता का पता लगाने के लिये

हस्तकौशल परीक्षा (*Manual Steadiness Test*), कोनर की ट्वीजर डेक्स्टेरिटी परीक्षा (*O Conner's Tweezer Dexterity Test*), संगीत अभिरुचि परीक्षा (*Musical Aptitude Test*) तथा मिनसोटा की कल-पुरजा परीक्षा (*Minnesota Mechanical Assembly Test*) हैं।

हस्त कौशल परीक्षा

हस्त कौशल परीक्षा के लिये एक विशेष प्रकार का यंत्र रहता है। यह बिजली से चलता है। इसमें ८ छिद्र रहते हैं जो क्रम से छोटे होते गये हैं। प्रयोग-पात्र से स्टाइलस (*Stylus*) को छिद्रों में इस प्रकार डालने के लिये कहा जाता है कि स्टाइलस का नोका यंत्र को बिना स्पर्श किये छिद्र के अन्दर चला जावे। यन्त्र के अन्दर ऐसा प्रबन्ध किया रहता है कि स्टाइलस से यंत्र के किसी भाग का सम्पर्क होते ही घंटी बज उठती है। प्रयोग-पात्र अपने प्रयास में कहाँ तक सफल होता है यह उसकी अंगुली की नसों की कुशलता पर निर्भर करता है। सतर्क रहने पर अधिकतर साधारण व्यक्ति ५ या ६ छिद्र तक स्टाइलस को सफलता से डाल और निकाल लेता है; सातवें और आठवें छिद्र के समय घंटी अवश्य बज जाती है। किन्तु जिस व्यक्ति का डॉक्टरी हाथ रहता है वह सब छिद्रों में स्टाइलस डाल देता है। सूई देना हाथ की बारीकी पर निर्भर है। इस परीक्षा से यह पता लगता है कि एक व्यक्ति विशेष डॉक्टरी का कार्य कहाँ तक सफलता से कर सकता है।

कोनर की ट्वीज़र डेक्स्टेरिटी परीक्षा

कोनर की ट्वीज़र डेक्स्टेरिटी परीक्षा (*O Connor's Tweezer Dexterity Test*) से यह पता लगाया जा सकता है कि छोटे २ औजार जैसे चिमटी इत्यादि का प्रयोग करके किसी व्यक्ति विशेष में बारीक कार्य करने की कुशलता कहाँ तक है। इस प्रयोग में प्रयोग-कर्त्ता को चिमटी से पिन जल्दी जल्दी उठाकर धातु के बने प्लेट में रखना पड़ता है। जो बिना गिराये कम से कम समय में अधिक से अधिक पिन उठाकर

रखता है उसमें बारीक कार्य करने की योग्यता समझी जाती है। यह विशेषता चीरा लगाने वाले डॉक्टरों के लिये, घड़ी मरम्मत करने वाले कारीगरों के लिये, और जीव विद्या प्रयोगशाला में कार्य करने वालों के लिये आवश्यक है।

संगीत अभिरुचि परीक्षा

'संगीत अभिरुचि परीक्षा' (*Musical Aptitude Test*) में फोनोग्राफिक डिस्क पर एक ही रेकार्ड से कई लय और स्वराघात का संगीत बजाया जाता है। प्रयोग-पात्र को यह बतलाना पड़ता है कि कब और कहाँ लय और स्वराघात में अंतर पड़ा। जिस व्यक्ति में संगीत-अभिरुचि होती है वह कम और अधिक स्वराघात होते ही पहचान लेता है; जिसमें यह विशेषता नहीं रहती उसे सब स्वर समान समझ पड़ता है। जिस प्रकार चित्रकारी की बारीकी समझने वाला व्यक्ति चित्रकार बन सकता है उसी प्रकार लय की बारीकी समझने वाला व्यक्ति गायक बन सकता है।

मिनसोटा की कलपुरजा परीक्षा

'मिनसोटा की कलपुरजा संग्रह परीक्षा (*Minnesota Mechanical Assembly Test*) से किसी व्यक्ति की यांत्रिक कार्य-कुशलता का पता लगता है। इसमें पुरजे दिये रहते हैं और इन्हें बैठाना पड़ता है। जो व्यक्ति यह कार्य कुशलता से कर लेता है वह इंजीनियरिंग की शिक्षा पाने के योग्य है।

उपरोक्त परीक्षाओं की सहायता से किसी व्यक्ति विशेष की जन्मजात कार्य करने की शक्ति का पता लग जाता है। जिस व्यक्ति में जिस कार्य के लिये पैदायशी अभिरुचि होती है उसी कार्य को वह कुशलता से कर सकता है। मुन्स्टरबर्ग ने कई रोचक उदाहरण* दिये हैं। एक

---

* Munsterberg gives an example of a boy having a

बालक पैदायशी रंग-अंधा (*colour blind*) था। पर वह इसे नहीं जानता था। रंग-अंधा होने के कारण नाविक का कार्य करने के लिये उसमें पैदायशी गुण नहीं था यद्यपि इस कार्य को करने की इच्छा उसमे बड़ी तीव्र थी। उसने नाव खेने का कार्य प्रारम्भ किया। किन्तु वह सफल न हो सका। इसी प्रकार जिसमें स्मरण-शक्ति की प्रतिभा का अभाव है वह सूचना-विभाग मे सफलता से कार्य नहीं कर सकता; जिसमें एकाग्रता की शक्ति नहीं है, वह कुशल वकील नहीं हो सकता; और संवेग के अभाव मे कोई व्यक्ति सफल कलाकार नहीं बन सकता। निष्कर्ष यह निकलता है कि जिस व्यवसाय के लिये जो विशेषता आवश्यक है वह रहने पर ही मनुष्य उस व्यवसाय में सफलता से कार्य कर सकता है। इसी कारण उपर्युक्त व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) देने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षाएँ निकाली जिनसे किसी व्यक्ति विशेष की बुद्धि और अभिरुचि का पता लगाकर उसे उपयुक्त व्यावसायिक शिक्षा दी जा सके।

---

passion for sailing when in fact he was suffering from colour-blindness. He points out similar defects may exist in a boy's attention, memory, judgement or feeling, thought, imagination, suggestibility or emotion and they may remain undiscovered as the defect of colour-blindness...The competent specialist who has supplemented natural gifts and good judgement by analysis and synthesis can perceive attitudes and proclivities even in the very young, much more readily in those semi-matured, and can with almost infalliable certainty pointo ut, notonly what work canbe undertaken withfairhope of success, butalso what slight modification or addition and dimunation will more than double the personal powers.—Psychology & Industrial Efficiency.

व्यावसायिक निर्देशन के लिये सबसे उपयुक्त समय वह है जब विद्यार्थी पाठशाला की शिक्षा समाप्त करके कालेज में प्रवेश कर रहा हो। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी अभिरुचि (*Aptitude*) क्या है और वह किस वर्ग के कार्य को सफलता से कर सकता है।

संक्षेप में श्रमिक को निर्देशन देना प्रारम्भ करने के पहले दो बातें विशेष रूप से ध्यान में रखनी हैं :

१. श्रमिक की अर्जित और पैदायशी विशेषता (*Aptitude*) का अन्वेषण करना।

२. यह जानने का भी प्रयत्न करना (*evaluation*) कि श्रमिक का इच्छा-प्रयोजन उस कार्य विशेष में कहाँ तक है ? इच्छा-प्रयोजन न रहने पर कार्य कुशलता से न कर सकेगा। एक कार्य छोड़ दूसरा करने लगेगा।

व्यावसायिक शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षा (*Vocational Traning*) का अब प्रश्न आता है। व्यावसायिक शिक्षा मिलने से श्रमिक अपना कार्य कुशलता से करना सीखता है। उसके व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि होती है। बात यह है कि मनुष्य में किसी कार्य के विषय में सैद्धान्तिक ज्ञान भले ही हो, जब तक वह स्वयं उस कार्य को नहीं करता उसमें कुशलता नहीं आती। व्यावसायिक शिक्षा देने के लिये कुछ ऐसी विधियाँ ढूँढ़ निकाली गयी हैं जिनसे कार्य का सम्पादन उचित भाँति किया जा सकता है। ये विधियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं :—

प्रतीक्षाकाल विधि (*Apprenticeship*) व्यावसायिक शिक्षा देने के लिये पुरानी विधि है; किन्तु आधुनिक काल में भी अन्य वैज्ञानिक विधियों के होते इसका अपना महत्व है। इसमें श्रमिक को कार्य का दायित्व देने के पहले कुछ समय के लिये विशेषज्ञ की संरक्षकता में रख दिया जाता है जिससे वह उस कार्य को सीखे और उसमें प्रवीण हो जाय। कुशल और प्रवीण व्यक्ति के संरक्षण में कार्य करने से उसे उस कार्य विशेष को

करने का अच्छा अनुभव भी हो जाता है। बढ़ई, लोहार, सोनार—इस प्रकार का सभी कार्य अधिकतर प्रतीक्षाकाल विधि से सीखा जाता है।

लारनर ने व्यावसायिक शिक्षाके लिये एक नयी विधि निकाली जो उद्योग-क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित भी है। यह विधि प्रतीक्षाकाल (*Apprenticeship*) के ही ढंग की है; किन्तु इसमे किसी कार्य को करने की सीमित शिक्षा—उस कार्य ही तक की—दी जाती है और शिक्षा देने का समय भी छोटा रहता है।

वेस्टिब्युल शिक्षा की विधि प्रतीक्षाकाल से भिन्न है। इसमें किसी विषय-विशेष की शिक्षा लेने के लिये श्रमिक को नियत पाठशाला या दुकान में जाना पड़ता है। पाठ्यक्रम निश्चित रहता है। नियुक्ति के पहले हरएक श्रमिक को इस शिक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य होता है। इससे लाभ यह रहा कि श्रमिक प्रयत्नशील रहने लगा और अपनी रुचि के अनुकूल शिक्षा का विषय चुनने की ओर प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा में निरीक्षण-शिक्षा (*Supervisory Training*) भी दी जाती है। कंपनी कारखाने की साधारण व्यवस्था की सूचना संरक्षक द्वारा दी जाती है जिससे कि श्रमिक को सब बातों का पहले से ही सामान्य ज्ञान रहे।

व्यावसायिक शिक्षा की सबसे उत्तम विधि कार्य-शिक्षा-योजना (*Job Instructor Training Programme*) की विधि है। कार्य शिक्षा-योजना (*JIT*) की बुनियाद दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ में सन् १९३९ में पड़ी। यह विधि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाई गयी है। इसी कारण यह अधिक सफल रही। मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यावसायिक शिक्षा के लिये कुछ आवश्यक बातें हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुये कार्य-शिक्षा-योजना की विधि निकाली गयी है।

पहला प्रश्न यह है कि श्रमिक से जो कार्य लेना है उसे किस प्रकार सिखलाया जाय। पूरे कार्य का विवरण एक साथ दिया जाय, या कई भाग

में बाँटकर। जे. आइ. टी. में कार्य को कई भाग में बाँटकर जो भाग उपयोगी है उसे चुनकर (*selecting a training unit*) और इस तरह प्रत्येक भाग के बारे में थोड़ा २ करके पूरा कार्य सिखलाया जाता है। इससे कार्य-विशेष में श्रमिक कुशल हो जाता है।

दूसरा प्रश्न व्यावसायिक शिक्षा के परत्र उपयोग (*Transfer of training*)का है। जे. आई. टी. में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है कि जो कुछ भी श्रमिक को सिखलाया जाय उसमें परत्र उपयोग-मूल्य (*Transfer value*) अवश्य हो। परत्र उपयोग-मूल्य होने से आगे चलकर भी जो सिखलाया जाता है उसमें उसका उपयोग होता है। ज्ञान का उपयोग किसी भी स्थिति में हो जाता है। शिक्षा देते समय परत्र उपयोग-मूल्य का ध्यान रखने से शिक्षा अधिक से अधिक सिद्ध होती है।

तीसरा प्रश्न रुचि होने (*Motivating the learning*) का है। शिक्षा की सफलता इच्छानुगत भाव पर निर्भर है। कार्य इच्छानुगत होने पर आसानी से सीखा जा सकता है। कार्य करने की गति तीव्र हो जाती है और थोड़ी शक्ति व्यय करके कम से कम समय में अधिक से अधिक कार्य किया जा सकता है। जे. आइ. टी. में श्रमिक के इच्छानुगत भाव को मुख्य स्थान दिया गया है।

चौथा प्रश्न हस्तक्षेप (*Interference*) का है। शिक्षा देते समय यह ध्यान रहे कि श्रमिक अपने कार्य में एकाग्र न होने से भूल तो नहीं कर रहा है। लापरवाही से शिक्षा देने से वह भूलें करेगा और बाद में उसकी भूल सुधारने में कठिनाई पड़ेगी। जो आदत एक बार पड़ जाती है उसे बदलना मुश्किल है; बल्कि उस कार्य को नये ढंग से सीखना सरल है। उदाहरणार्थ, टाइपिंग की शिक्षा देते समय यह ध्यान सदैव बना रहे कि श्रमिक की अँगुलियाँ गलत तो नहीं चल रही हैं। ईंट ढोने में भी शरीर की माँसपेशि को एक विशेष प्रकार से गति में करना पड़ता है। यदि प्रारम्भ में ही गलत गति किया तो बाद में सुधार की संभावना कम

रहती है। इसी कारण जे. आइ. टी. मे इस समस्या का ध्यान रख कर शिक्षा दी जाती है।

पाँचवाॅ प्रश्न संवेग-संबंधी है। जब मनुष्य सवेगात्मक दृष्टि से अस्थिर रहता है तब वह शिक्षा से कोई लाभ नही उठा सकता और इस प्रकार कार्य कुशलता से नहीं कर पाता। कार्य करने की शक्ति बहुत कुछ सवेगात्मक अवस्था पर निर्भर करती है। सवेगात्मक हलचल होने पर उसकी समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ विकृत और निष्प्रभ पड़ जाती है: माॅसपेशियाॅ सबद्ध (*Muscle co-ordination*) नहीं रह जाती। शिक्षा के समय सवेग की दृष्टि से अस्थिर होने का मुख्य कारण नया वातावरण होता है। इस कारण सवेगात्मक दृष्टि से सामञ्जस्य रखने के लिये शिक्षा मे इस प्रकार की व्यवस्था की जाय कि श्रमिक अपने को अजनवी महसूस न करे: आत्मीयता के भाव का अनुभव करे। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का ध्यान जे० आई० टी० मे पूर्ण रूप से रखा गया है।

छठवाॅ प्रश्न यह है कि श्रमिक को केवल यत्रवत् कार्य करने की शिक्षा दी जाय या उस व्यवसाय के विषय मे उसे पूरा ज्ञान कराया जाय। उदाहरणार्थ, श्रमिक को आटे की चक्की चलाना सिखलाना है: श्रमिक को केवल इतना बतलाना कि वह मशीन चलाकर आटा निकाल लेवे या यह भी कि आटे की मशीन के पुरजे किस प्रकार लगे है जिससे कि मामूली तौर से मशीन रुक जाने पर वह उसे चालू कर ले। प्रयोग करने पर पता लगा कि जब किसी व्यक्ति को पूरा ज्ञान कराकर कार्य को करने की शिक्षा दी जाती है तब वह उसे जल्दी सीखता है और कुशलता से करता है; बिना समझे कोई कार्य करने से अधिक समय लगता है और कुशलता से नहीं हो पाता। इसी कारण जे० आई० टी० मे पहले श्रमिक को जो कार्य करना सिखलाना है उसकी पूरी व्याख्या दी जाती है; व्याख्या के पश्चात् प्रदर्शन होता है कि वह किस प्रकार कार्य करे; तत्पश्चात् श्रमिक से, उसने जो कुछ समझा हो, वर्णन करने के लिये कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर जे० आई० टी० विधि की नींव इस बात का प्रमाण है कि व्यावसायिक शिक्षा भी वैज्ञानिक होगयी है।

व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) पर विस्तार से प्रकाश डालने के पश्चात् व्यावसायिक चुनाव (*Vocational Selection*) का प्रश्न उठता है। इसका अर्थ है किसी व्यवसाय-विशेष का विश्लेषण करके उस व्यक्ति-विशेष को चुनना जिसमें उस व्यवसाय को करने की योग्यता हो।

व्यावसायिक चुनाव

इसमें दो बातें आवश्यक हैं : एक, यह मालूम करना कि उस व्यवसाय-विशेष के लिये श्रमिक में किन विशेषताओं का होना आवश्यक है; दो, जिन व्यक्तियों में से चुनाव करना है उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं ? इन्हीं बातों का ज्ञान व्यावसायिक निर्देशन में भी होना आवश्यक है। अंतर केवल यह है कि एक में श्रमिक की नियुक्ति होती है और दूसरे में व्यवसाय संबंधी निर्देशन दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यावसायिक चुनाव में व्यवसाय है और व्यवसाय की विशेषता समझकर श्रमिक की नियुक्ति होती है; व्यावसायिक निर्देशन में किसी व्यक्ति के लिये उसकी योग्यता के अनुकूल व्यावसयिक शिक्षा का परामर्श दिया जाता है।

व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) और व्यावसायिक चुनाव (*Vocational Selection*) दोनों ही व्यावसायिक मनोविज्ञान* (*Vocational Psychology*) के अन्तर्गत हैं। ये दोनों इसकी शाखाएँ हैं। व्यावसायिक मनोविज्ञान में वैयक्तिक भेद और व्यवसाय की विशेषताओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

---

* Vocational Psychology is an attempt to take into account individual differences on the one hand and vocational requirements on the other, and as far as possible to fit them together in the concrete case.
Psychology & Practical life : Colling & Drever. p. 172.

उपयुक्त व्यावसायिक चुनाव के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये :

१. किसी व्यवसाय को करने के लिये किन विशेषताओं की आवश्यकता पड़ती है। 'कार्य-विश्लेषण' (*Functional Job analysis*) के अन्वेषण के पहले साधारण तौर से व्यवसाय की विशेषता को बिना जाने जिन व्यवसायों में कुछ भी समानता मिलती वे एक वर्ग में रख दिये जाते। किन्तु अब वर्गीकरण के लिये व्यवसाय का विश्लेषण आवश्यक है। विशेषताएँ जानने पर व्यवसाय का वर्गीकरण आसानी से हो जाता है। जब तक व्यवसाय का सूक्ष्म दृष्टि से वर्गीकरण नहीं हुआ रहता तब तक व्यावसायिक चुनाव संभव नहीं होता। व्यवसाय का वर्गीकरण हो जाने पर व्यावसायिक चुनाव सरल हो जाता है।

२. चुनाव के पहले श्रमिक की रुचि का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। जिस व्यवसाय-विशेष में श्रमिक की रुचि है उसी में उसकी नियुक्ति उचित है। कारण यह है कि रुचि होने से वह उस कार्य को तत्परता और कार्य-क्षमता के साथ करेगा, अन्यथा वह ऊब जायगा और घबड़ाकर कार्य छोड़ देगा।

३. व्यावसायिक चुनाव में बुद्धि के प्रश्न पर भी ध्यान रखना पड़ता है। कुछ व्यवसाय में अधिक बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। यदि उसमें कम बुद्धि के व्यक्ति की नियुक्ति हो गई तो वह सफलता से कार्य नहीं कर सकता। इंजीनिअर में अधिक बुद्धि होना आवश्यक है; ईंटा ढोने वालों में कम बुद्धि पर्याप्त है। अल्प बुद्धि का व्यक्ति कभी भी सफल इंजीनिअर नहीं बन सकता; ईंटा ढो सकता है। इसका उल्लेख व्यावसायिक निर्देशन के संबंध में किया जा चुका है।

४. उपयुक्त व्यावसायिक चुनाव के लिए श्रमवर्ग के व्यक्तियों की आचरण-परीक्षा भी ली जाती है कि उनमें सहनशीलता, स्नेह, दया, सहानुभूति, वफ़ादारी की विशेषताएँ कहाँ तक हैं। कुछ व्यवसाय विशेष

में तो, जैसे कोषाध्यक्ष के कार्य के लिये, अच्छा आचरण नितान्त आवश्यक है। ईमानदार व्यक्ति ही यह कार्य कर सकता है। साथ ही संवेग की दृष्टि से स्थिर मन का हो। परन्तु किसी व्यक्ति के आचरण का पता प्रयोग द्वारा लगाना आसान नहीं।

५. व्यावसायिक चुनाव के लिये यह पता लगाना आवश्यक है कि श्रमिक की कुशलता पैदायशी है या अर्जित। पैदायशी प्रतिभा का अर्जित प्रतिभा से अधिक महत्व होता है। जिस श्रमिक में किसी कार्य को करने की पैदायशी प्रतिभा है वह अधिक योग्य है। साधारण तौर से पैदायशी प्रतिभा का पता लगाना आसान नहीं; अर्जित योग्यता का पता आसानी से लग जाता है।

६. व्यावसायिक चुनाव-नियुक्ति में शरीर के डील-डौल पर भी विचार होता है। चौकीदारी के लिये शरीर से लंबा चौड़ा और हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है : छोटे कद का दुबला-पतला व्यक्ति इसके लिये अयोग्य है। विक्रेता और क्लर्क के लिये भी यह विशेषता आवश्यक है।

व्यावसायिक चुनाव-नियुक्ति में यद्यपि उपरोक्त बातों की आवश्यकता महसूस कर ली गई है तथापि इन सब पर वैज्ञानिक रूप से पूर्ण आविष्कार नहीं हुआ है। बुद्धि-परीक्षा लेने के लिये साधन हैं, फिर भी ठीक ठीक विवरण नहीं मिलता। आचरण-संबंधी विशेषताओं को जानने के लिये अभी तक कोई वैज्ञानिक साधन नहीं निकला है। ऐसी परिस्थिति में निर्णय-शक्ति (*power of judgement*) और मूल सिद्धान्त के आधार पर व्यावसायिक नियुक्ति करना है। नियुक्ति करने में निर्णय-शक्ति बहुत सहायक होती है। यहाँ तक कि कुछ परीक्षाएँ निर्णय-शक्ति के आधार पर ही बनी हैं। वेल्स ने श्रमिक की विशेषताओं को समझने के लिये अपने अनुभव के आधार पर प्रश्नों की एक सूची बनाई और प्रत्योत्तर का विश्लेषण कर श्रमिक की विशेषता को बतलाया। यह प्रयोग अध्यापिकाओं पर किया गया। प्रयोग में निम्नलिखित प्रश्न पूछे गयें :

१. पाठशाला के कार्य की देखरेख वह अन्य अध्यापिकाओं के सहयोग मे करती है या उसे अकेले ही व्यवस्था करना पंसद है ?

२. पाठशाला के कार्य-कारिणी समितिओ मे भाग लेना उसे रुचिकर है या नहीं ?

३. संस्था का संचालन तत्परता और ईमानदारी से करती है या स्वार्थ वश। अन्य अध्यापिकाओं के प्रति क्या उसमे सहानुभूति-भाव है ?

४. संस्था के सुधार मे क्या उसकी रुचि है ? कभी योजनाएँ बनाती है ?

५. कार्य का दायित्व क्या वह अनुभव करती है ?

६. विद्यार्थियों की रुचि उसमे कहाँ तक है ?

७. वह अपने कार्य को नियत समय में समाप्त कर लेती है या मिसले बाकी पड़ी रहती है ?

इन प्रश्नों के आधार पर किसी व्यक्ति के आचरण संबंधी विशेषताओ—एकता का भाव, प्रसन्न स्वभाव, ईमानदारी तथा दया सहानुभूति—का पता लग सकता है। दोष केवल यह है कि निर्णायक के व्यक्तिगत विचार से निर्णय रंगा रहता है। अन्य विशेषताओ जैसे कार्य-क्षमता (*efficiency*), नवीनता (*originality*), तत्परता (*quickness*) इत्यादि को नापने के लिये बाह्य परीक्षाएँ (*objective tests*) हैं।

व्यावसायिक चुनाव-नियुक्ति पर विचार करने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि इससे लाभ क्या है ?

उपयुक्त व्यावसायिक चुनाव से श्रमिक और उद्योगपति दोनो को ही लाभ होता है : श्रमिक को उसकी बुद्धि और अभिरुचि के अनुकूल व्यवसाय मिलता है; उद्योगपति को कार्यकुशल श्रमिक। रुचि के अनुकूल व्यवसाय होने से श्रमिक की कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। कार्य तत्परता और तीव्र गति से होने लगता है। व्यवसाय की सफलता बहुत कुछ श्रमिक की कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है।

उद्योग-विभाजन (*Specialization*) होने से प्रत्येक विभाग में उस कार्य के विशेषज्ञ की नियुक्ति अनिवार्य है। विशेषज्ञ को कार्य करने में थोड़ा समय लगता है; अनभिज्ञ को वही कार्य करने में अधिक समय लगता है और वह भूलें भी करता है। यदि किसी कारखाने में विशेषज्ञ की नियुक्ति नहीं की जाती तो उस कारखाने की बनी वस्तुओं का मूल्य अधिक पड़ेगा। कारण यह है कि सबसे अधिक व्यय श्रम पर होता है। प्रबंध उपयुक्त रहने से श्रम का व्यय कम किया जा सकता है।

दोषयुक्त नियुक्ति (*faulty placement*) होने पर श्रमिक को संतोष नहीं मिलता। वह बराबर एक व्यवसाय छोड़कर दूसरे व्यवसाय की तलाश में रहता है। उद्योगपति भी संतुष्ट नहीं हो पाता। उसे एक को हटाकर दूसरे की नियुक्ति करनी पड़ती है। इससे कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाता। श्रमिक अनुभवी भी नहीं हो पाता।

निम्नलिखित विधियों द्वारा व्यावसायिक चुनाव (*Methods of Vocational Selection*) किया जा सकता है :—

१. परिचय (*Interview*)

२. व्यक्तिगत विवरण

३. नियुक्ति परीक्षाएँ (*Employment Tests*)

परिचय

नियुक्ति के लिये परिचय-विधि में पहले आवेदन पत्र पर विचार किया जाता है: जिसका आवेदन पत्र उपयुक्त समझा जाता है उसे परिचय पर बुलाया जाता है और विचार करके नियुक्ति की जाती है; जिसका उपयुक्त नहीं, उसका रद्द कर दिया जाता है। प्रारम्भ में नियुक्ति के लिये केवल परिचय की ही प्रथा थी। इसका प्रयोग बहुत प्रकार से होता है।

कुछ कार्यालयों में आवेदक की कार्य-कुशलता जाँचने के लिये उसे कई बार बुलाया जाता है। एक परिचय पर्याप्त नहीं समझा जाता। कहीं आवेदक से नियत प्रश्न पूछने का नियम रहता है। प्रश्नों के उत्तर

पर नियुक्ति निर्भर करती है। परिचय का समय भी सब जगह समान नहीं रहता। कहीं परिचय का समय देर तक चलता है और कही जल्दी समाप्त कर दिया जाता है। अधिकतर कार्यालयों में परिचय का समय ३०-४० मिनट रहता है। यह भी कि नियुक्ति के लिये कही एक निर्णायक होता है और कही समिति रहती है। समिति में बहुमत पर परिचायक की नियुक्ति निर्भर करती है। सब स्थानों पर परिचय का विवरण व्यवस्थित रूप से नही रखा जाता।

परिचय-प्रथा में दोष भी है। आवेदन पत्र पर निर्भर करना उचित नहीं है। आवेदक प्रायः आवेदन पत्र दूसरे से लिखा लेता है। इस कारण आवेदक की विशेषता का अनुमान आवेदन पत्र से नही लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत धारणा पर निर्भर होने के कारण ठीक नियुक्ति नही हो पाती। संभव है निर्णायकों में मतभेद हो : एक पक्ष में हो और दूसरा विपक्ष में। हौलिंगवर्थ ने विक्रेता की नियुक्ति के लिये विज्ञापन किया। ५७ आवेदन पत्र आये। सब आवेदकों को परिचय पर बुलाया गया। कार्य कुशल आवेदकों को छाँटने के लिये १२ निर्णायक नियुक्त किये गये। सबने अपना स्वतत्र विवरण दिया। विवरण देखने से पता लगता है कि हरएक का निर्णय भिन्न-भिन्न था।* कोई निर्णायक आवेदक को देखते ही उसके विरुद्ध धारणा बना लेता है, कोई जान पहचान होने के कारण बिना सोचे-समझे अच्छा विवरण देता है। परिचय में सिफारिश के पत्र का भी प्रभाव पड़ता है। सरक्षक प्रभाव में आकर गलत व्यक्ति की नियुक्ति कर देता है। अधिकतर वह व्यक्ति चुना जाता है जिसकी पहुँच बड़े २ ओहोदे के व्यक्तियो तक रहती है।

कुछ वर्ग के व्यवसाय में यह प्रणाली व्यर्थ ही नही हानिकारक प्रमाणित होती है। क्लर्क, मैनेजर और शारीरिक कार्य करनेवाले की नियुक्ति में परिचय की विधि हानिकारक है। विक्रेता की नियुक्ति में परिचय की विधि

* Applied Psychology : Poffenberger

अवश्य सफल होती है। जिन विशेषताओं का विक्रेता में होना अनिवार्य है उनका पता परिचय द्वारा आसानी से लगाया जा सकता है। शरीर का डील-डौल, व्यवहार में कुशलता और स्वभाव की नम्रता का पता मिल जाता है। परिचय में स्थिति विशेष का प्रभाव पड़ता है। जो आवेदक परिचय में पहले आता है उसका प्रभाव उस आवेदक से भिन्न पड़ता है जो आखिर में बुलाया जाता है। इसी प्रकार जब बहुत कुशल आवेदक के बाद औसत आवेदक परिचय में आता है, वह नहीं चुना जाता। उसका प्रभाव एकबारगी बुरा पड़ता है। परिचय-विधि के दोष को देखकर अब कल-कारखानों में अस्थायी नियुक्ति होने लगी है। यदि श्रमिक कार्य-कुशलता दिखलाता है तो उसकी स्थायी रूप से नियुक्ति की जाती है, अन्यथा नयी नियुक्ति होती है।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विवरण के आधार पर भी नियुक्ति की जाती है। रोग से जर्जर और मन से दुर्बल व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जाती। साथ ही, आर्थिक अवस्था का भी महत्व है। कुछ प्रकार के

व्यक्तिगत विवरण

व्यवसाय में जमानत देनी पड़ती है, जमानत न दे सकने पर नियुक्ति नहीं की जा सकती। कुछ व्यवसाय के लिये ऊँची शिक्षा आवश्यक रहती है। आचार्य के स्थान पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति की जा सकती है जिसे बौद्धिक शिक्षा मिली है। श्रमिक का स्वास्थ्य, उसकी आर्थिक अवस्था और शिक्षा के अतिरिक्त उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं (*individual traits*) का भी पूरा ज्ञान होना नियुक्ति के लिये आवश्यक है। यह कार्य सरल नहीं। प्रायः धोखा हो जाता है। आवेदक रहता कुछ है और अपने विषय में विवरण कुछ और ही देता है। अपने विषय में बड़ी बड़ी बातें करना और कमजोरियों को छिपाना तो मानव-स्वभाव है। आचरण के दोष को तो वह किसी प्रकार प्रकट नहीं होने देता।

व्यावसायिक चुनाव के लिये नियुक्ति परीक्षाएँ (*Employment*

Tests) सबसे अधिक उपयोगी है। पाश्चात्य देशों के बड़े बड़े कारखानों में श्रमिक की नियुक्ति के लिये परीक्षाएँ लेना प्रचलित है। नियुक्ति परीक्षाएँ तीन प्रकार की है : अभिरुचि परीक्षा (*Tests of Aptitude*), कार्य-क्षमता परीक्षा (*Tests of Achievement*) और व्यक्तित्व परीक्षा (*Tests of Personality*)। इनका उल्लेख शिक्षा, उपचार और व्यावसायिक निर्देशन के प्रसंग मे किया जा चुका है। निर्बुद्धि कार्य (*Unskilled occupations*), दफ्तर का कार्य (*Clerical occupations*), यान्त्रिक कार्य (*Mechanical occupations*) और विशेष कार्य (*Technical occupations*)—सभी कार्यों में नियुक्ति के लिये परीक्षाएँ नियत है। इन परीक्षाओं से श्रमिक की बुद्धि, अभिरुचि, कार्य-क्षमता और व्यक्तित्व का पूरा पूरा विवरण मिल जाता है जिससे नियुक्ति में सहायता मिलती है और अनुचित चुनाव की कम संभावना रहती है। इनका अन्वेषण होने से वैज्ञानिक रीति से नियुक्ति होने लगी है। अब यह संरक्षक की कल्पना पर निर्भर नहीं करती।

नियुक्ति परीक्षाएँ

व्यावसायिक निर्देशन (*Vocational Guidance*) और चुनाव (*Vocational Selection*) के पश्चात् योग्यता-अकन (*Merit Rating*) का प्रश्न उठता है। योग्यता-अंकन मे श्रमिक की आरम्भ से अंत तक कार्य करने की योग्यता का विवरण रहता है। इस प्रकार का विवरण अब रखा जाने लगा है। यह श्रमिक के लिये बहुत लाभप्रद है:—

योग्यता-अंकन

१. योग्यता-अंकन रहने से श्रमिक की योग्यता का क्रम से पूरा विवरण मिल जाता है। इससे उस व्यक्ति विशेष की विशेषता का ठीक पता लग जाता है। निर्णय में एकरूपता रहती है। नये संरक्षक को जब विवरण नही मिलता और उसे श्रमिक की विशेषता पर अपना निर्णय देना पड़ता है तब संभव है कि वह उसके बारे मे गलत निर्णय दे। प्रायः नये संरक्षक को

देखकर श्रमिक के मन में भय का भाव होता है और वह अपने को अयोग्य प्रमाणित करता है जब कि वास्तव में वह कुशल रहता है। योग्यता-अंकन होने से संरक्षक सब स्थिति का ध्यान करके निर्णय देता है। वह श्रमिक की योग्यता का अनुमान लगा लेता है।

२. योग्यता-अंकन से संरक्षक का कार्य सरल हो जाता है! इसके अभाव में संरक्षक को श्रमिक की योग्यता में विश्वास उत्पन्न करने में बहुत समय लग जाता है।

३. श्रमिक की कार्य करने की मात्रा कम और अधिक हुआ करती है। कभी वह अधिक कार्य करता है और कभी कम। योग्यता का विवरण रहने से, भले ही वह अनिच्छा और परिस्थिति के कारण कार्य न करे, वह अयोग्य नहीं ठहराया जाता।

४. योग्यता-अंकन से श्रमिक के संबंध में एक स्थिर धारणा बन जाती है। श्रमिक के विषय में जो विचार-धारणा एक संरक्षक की होती है, वही दूसरे की भी बनाती है। नये संरक्षक का अपना माप-दंड भले ही कुछ हो, श्रमिक के पिछले योग्यता-अंकन का विवरण ध्यान में रखकर ही उसे अपना निर्णय देना पड़ता है। योग्यता-अंकन का ठीक विवरण रखने के लिये कई संरक्षकों की नियुक्ति की गयी जिससे श्रमिक की विशेषता का विवरण लेते समय निर्णय एक व्यक्ति की धारणा और भाव-कल्पना पर निर्भर न कर जावे। किसी विषय पर सामूहिक निर्णय अधिक उपयुक्त होता है। साथ ही श्रमिकके मन में भी यह विश्वास जम जाता है कि उसे धोखा नहीं दिया जा रहा है। उसकी सफलता उसकी योग्यता पर निर्भर करेगी। यदि वह कुशल हुआ तो अवश्य चुना जायगा। उसके भाग्य का निपटारा निष्पक्ष होगा। उसका चुनाव सरक्षक की व्यक्तिगत इच्छा का प्रश्न नहीं है। वह उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

५. योग्यता-अंकन से उन्नति पाना भी आसान हो जाता है। पिछला विवरण देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक में किस अनुपात में

सुधार हो रहा है और उसकी तरक्की कर दी जाती है; जो अयोग्य हैं उन्हें दूसरे कार्य में लगा दिया जाता है। इस प्रकार श्रमिक की मानसिक और शारीरिक शक्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। श्रमिक अपनी योग्यतानुसार उन्नति पाता है और उद्योगपति को कुशल प्रवीण श्रमिक मिलते हैं।

६. योग्यता-अंकन की प्रथा होने से श्रमिक के मन में यह भाव बना रहता है कि उसके कार्य का मूल्य आँका जा रहा है। इसलिये वह प्रगतिशील रहता है। तत्परता से कार्य में संलग्न रहता है। यह तो मानव-स्वभाव है। प्रयत्नशील होने के लिये किसी न किसी रूप में उत्साह मिलना आवश्यक है। कवि जब अपनी कल्पनाओं-भावनाओं के लोल लहरों से खेलता हुआ काव्य की रचना करता है और प्रशंसा पात्र बनता है तब उसे प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार उद्योग-क्षेत्र में योग्यता-अंकन (*Merit Rating*) से बहुत लाभ है! औद्योगिक मनोविज्ञान की इस सूझ ने उद्योग की बहुत-सी समस्याएँ सुलझा दी है। इसी कारण योग्यता-अंकन के लिये कई वैज्ञानिक विधियों का अनुसंधान हुआ जिससे श्रमिक की विशेषता का ठीक-ठीक विवरण लिया जा सके।

श्रमिक योग्यता-अंकन

क्रमिक योग्यता-अंकन (*Rank Order Ratings*) में सभी वर्ग के श्रमिकों की नामावलि उनकी योग्यता के क्रम से बनाई जाती है—सबसे योग्य का नाम सिरे पर और सबसे मंद का नाम अंत में। यह सहज-सरल विधि है और इसकी सहायता से संरक्षक प्रवीण व्यक्ति को चुनकर अवसर पड़ने पर उससे काम ले सकता है। किन्तु इस विधि का प्रयोग हरएक स्थिति में नहीं किया जा सकता। जब श्रमिक की संख्या अधिक होती है तब विशेषता के क्रम में सूची बनाने में असुविधा होती है। २० या २५ तक श्रमिक की संख्या होने पर सूची तैयार

कर ली जाती है, इससे अधिक संख्या होने पर सूची नहीं बन पाती। इसके अतिरिक्त सभी व्यवसाय में श्रमिक योग्यता-अंकन विधि का प्रयोग सम्भव नहीं है।

योग्यता-अंकन मापविधि (*Scale method in Merit Rating*) में प्रत्येक व्यवसाय की विशेषता नापने के लिये उसका अलग माप होता है।

योग्यता-अंकन माप विधि

जितने प्रकार के व्यवसाय होंगे उतने प्रकार के माप। इस प्रकार कई माप रहते हैं। संरक्षक इनसे किसी श्रमिक की योग्यता का माप करता है। योग्यता-अंकन की यह विधि अधिक प्रचलित है। अधिक संख्या में श्रमिकों के होने पर भी योग्यता-अंकन में कठिनाई नहीं पड़ती। आसानी से उनकी विशेषता का विवरण ले लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के व्यवसाय होते हुये भी असुविधा नहीं होती। पहले श्रमिक का वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर किया जाता है और फिर जो माप जिस व्यवसाय के लिये नियत रहता है उससे श्रमिक की योग्यता का विवरण लिया जाता है।

योग्यता-अंकन की इस विधि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह **परिवर्त्तनशील है : इसका प्रयोग किसी भी परिस्थिति में तथा किसी भी वर्ग** के व्यवसाय में किया जा सकता है। किन्तु इससे ठीक-ठीक विवरण नहीं लिया जा पाता। इस दृष्टि से दोष रह जाता है।

अब कार्य और कार्य-क्षमता (*Work & Efficiency*) के संबंध में उल्लेख करना है। साधारण तौर से कार्य दो प्रकार के होते हैं :

कार्य तथा कार्य क्षमता

शारीरिक और मानसिक। बोझ उठाना, हल जोतना, भोजन पकाना, मशीन चलाना शारीरिक कार्य हैं; दर्शन तथा नीति की बातों पर विचार करना और सुझाव रखना तथा व्यापार संबंधी समस्याओं को सुलझाना मानसिक कार्य हैं। कुछ कार्य मिश्रित प्रकार के हैं : शरीर से संबंधित

हैं और मन के क्रिया-व्यापार से भी, जैसे मकान बनाने की योजना करना, खेत बोने में ट्रैक्टर का प्रयोग करना। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कार्य एक ही सिद्धान्त से संचलित होते हैं; यह नहीं कि शारीरिक कार्य एक प्रकार के नियमों से निर्धारित है और मानसिक दूसरे प्रकार के। दोनों प्रकार के कार्य करने में कुछ न कुछ शक्ति का ह्रास अवश्य होता है। अंतर इतना है कि एक का संबंध शरीर से है और दूसरे का मन से। एक में मांसपेशियों का प्रयोग होता है और दूसरे में सूक्ष्म तंतुओं (*finer fibres*) का।

कार्य और खेल में अंतर है। कार्य आवश्यक है : इच्छा हो या न हो करना ही है; खेल इच्छा पर निर्भर करता है। कार्य से थकान आती है; खेल से प्रसन्नता मिलती है। कार्य से शरीर और मन की शक्ति का ह्रास होता है; खेल से स्फूर्ति आती है। कार्य से शरीर के वेदनक्षम आदायक (*Sensitive receptors*) निष्प्रभ हो जाते हैं; खेल से नहीं। कार्य करने से मनुष्य किस प्रकार संवेदनहीन हो जाता है इसका माप दो बिंदु परीक्षा* से किया गया है। जो कुछ भी हो कार्य को खेल के भाव में करने से यह बोझ नहीं लगता। कार्य सदैव इस प्रकार करना चाहिये कि यह मनके अनुकूल रहे और इसे करने की उत्सुकता बनी रहे।

सभी कार्य का प्रभाव शरीर और मन पर बराबर नहीं पड़ता। यह बहुत कुछ कार्य की तीव्रता और व्यक्ति-विशेष के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। भारी और जटिल कार्य करने से शरीर और मन पर अधिक प्रभाव पड़ता है; हल्का और सरल कार्य करने से कम। भारी बोझ उठाने पर शरीर थक जाता है और जटिल समस्या सुलझाने से मन थकता है। इसी प्रकार जब मनुष्य शरीर या मन से अस्वस्थ रहता है,

---

* इस परीक्षा के लिये ईसथेसियोमीटर नामक यंत्र है। इससे त्वचा की संवेदनशीलता (sensitiveness) का ठीक ठीक पता लग जाता है।

तब कार्य का प्रभाव उस पर अधिक पड़ता है; शरीर से स्वस्थ रहने पर और संवेगात्मक दृष्टि से स्थिर होने पर कार्य बोझ नहीं मालूम पड़ता। फिर भी कुछ न कुछ क्रियात्मक शक्ति (*Motor contiol*) कम हो जाती है और शक्ति को पुनः एकत्रित करने के लिये विश्राम लेना आवश्यक हो जाता है। थार्नडाइक और पौफेनबर्गर ने प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि कार्य करने के बाद मन शिथिल हो जाता है। यह इस बात का द्योतक है कि कार्य की गति बराबर कम और अधिक हुआ करती है।

कार्य-रेखा

कार्य-रेखा (*Work curve*) श्रमिक के कार्य की गति का विवरण है। इससे हमें यह पता लगता है कि कार्य की गति किस प्रकार घटती या बढ़ती है। प्रारम्भ में कुछ देर तक कार्य तेज़ी से चलता है, थोड़ा कार्य करने के बाद कार्य की गति धीमी पड़ जाती है, फिर कम हुई गति में स्थिर होकर कुछ देर तक कार्य होता रहता है, इसके बाद कार्य की गति बिल्कुल कम हो जाती है और अंत में श्रमिक थक कर कार्य करना बंद कर देता है। कभी कभी कार्य रेखा इस प्रकार का भी रूप लेती है कि श्रमिक ने प्रारम्भ में लगातार कुछ देर तक बहुत तेज़ी से कार्य किया और फिर थक कर कार्य करना बिल्कुल बंद कर दिया। धीरे-धीरे कार्य करने से कार्य स्थिर गति से देर तक चलता है। कार्य की गति बहुत देर बाद कम होती है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि तीव्र गति से लगातार कार्य करने से—कार्य शारीरिक हो या मानसिक—शिथिलता आने लगती है : कार्य-रेखा नीचे की ओर मुड़ती है या एकबारगी रुक जाती है। इसका मुख्य कारण थकान है जो देर तक बिना अवकास कार्य करने से आती है। जब कभी मनुष्य किसी प्रकार का कार्य करता है, कुछ न कुछ थकान अवश्य आती है। पृथक्-पृथक् प्रकार के कार्य करने से पृथक्-पृथक् परिमाण में थकान आती है। जिस अनुपात में वह थकता है उसी अनुपात में कार्य-रेखा नीचे की ओर मुड़ती है। कार्य-रेखा से पता लगता है

कि जब तक मनुष्य थक नहीं जाता तब तक रेखा ऊपर की ओर जाती है। जब थकान आ जाती है तब कार्य की गति मंद पड़ जाती है; थकान न रहने पर कार्य की गति तेज़ रहती है। थकान इस तरह कार्य में रुकावट डालती है। इस कारण थकान की समस्या को ध्यान मे रखकर कार्य की योजना निर्धारित करनी है।

औद्योगिक मनोविज्ञान में थकान का विषय बहुत महत्व का है। इसकी परिभाषा दो दृष्टि से दी जा सकती है। आभ्यन्तरिक दृष्टि से यह मन की वह अवस्था है जब मनुष्य कार्य नहीं करना चाहता, ध्यान स्थिर नहीं हो पाता और सोचने-समझने की शक्ति मंद पड़ जाती है। बाह्य दृष्टि से थकान वह अवस्था है जब शरीर में कार्य करने की शक्ति कम रह जाती है। दूसरे शब्दों में थकान मन और शरीर की वह अवस्था है जिसमें मनुष्य शिथिल सा हो जाता है और विश्राम चाहता है।

थकान

स्टार्च के अनुसार थकान यथार्थ में रुचि और इच्छा कम होने की अवस्था है। फ्रीमैन के अनुसार यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें शरीर के तंतु प्रतिक्रिया नहीं करतें और मन भी पूर्णतः शिथिल पड़ जाता है। श्रमिक निश्चेष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि रोष और चिड़-चिड़ापन का भाव भी उसमें नहीं रह जाता। विलसन के अनुसार यह अवस्था बहुत देर तक मानसिक श्रम करने से आती है। ड्रिल के अनुसार थकान वह अवस्था है जिसमें शारीरिक सामञ्जस्य नहीं रह जाता। शारीरिक थकान का कारण स्नायु तंत्र और माँसपेशी में दुग्धालभ्य (*Lactic Acid*) का अधिक उत्पन्न होना है जो एक प्रकार का विषपूर्ण विजातीय द्रव्य (*toxic substance*) है। दुग्धालभ्य जब रक्त में अधिक मात्रा में हो जाता है तब शरीर में लकवा मार देता है। शरीर के किसी विशेष भाग में इकट्ठा होनेपर उस स्थान पर थकान महसूस होने लगती है। जब इसका वितरण पूरे शरीर में होता है तब पूरा शरीर शिथिल पड़ जाता है।

थकान आने पर शरीर में कारबन-डाइऑक्साइड और अमोनिया भी उत्पन्न हो जाते हैं। दुग्धालम्य (*Lactic acid*) की तरह इनका भी प्रभाव ज़हरीला होता है। शरीर का पौष्टिक द्रव्य ग्लाइकोज़न है। अधिक मात्रा में इसका व्यय हो जाने से थकान आती है; किन्तु पूर्ण शिथिलता दुग्धालम्य, अमोनिया तथा कारबन-डाइऑक्साइड के अधिक उत्पन्न होने से आती है।

थकान आने पर तंतुओं की जो कुछ अवस्था होती है उस पर मिलर ने विचार किया। उनके ६ वर्ष बाद १८५० ई० में हेल्महोल्ट्ज़ ने संवेदन तंतु (*Efferent nerve*) और क्रिया तंतु (*Afferent nerve*) की गति का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि थकान आने पर जब कभी कोई बाहरी वस्तु ज्ञानेन्द्रिय के सम्पर्क में आती है तब उसका अनुभव मस्तिष्क तक पहुँचने और प्रतिक्रिया (सूई का चुभना और हाथ का खींचना) होने में अधिक समय लगता है; जब थकान नहीं रहती तब कम समय लगता है। माँसपेशि के संकुचन (*Muscular contraction*) को नापने के लिये भी हेल्महोल्ट्ज ने एक नया यंत्र बनाया। यह म्योग्राफ यंत्र है। १८५८ ई० में प्रायोगिक मनोविज्ञान के प्रवर्त्तक वुन्डट ने थकान के प्रभाव का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिये इसका प्रयोग किया। डाइनोमौनेटरेस यंत्र के द्वारा भी माँसपेशि की शक्ति नापी जा सकती है। इरगोग्राफ से भी थकान का विवरण लिया जाता है। थकान का प्रभाव साँस पर पड़ता है। दौड़ने या नाव खेने से साँस फूलने लगती है। थकान पर इस प्रकार विविध प्रयोग किये गये हैं। इस संबंध में ह्यूगोक्रोनेकर का नाम भी प्रसिद्ध है। यद्यपि थकान नापने का प्रयत्न सब प्रकार से किया गया है फिर भी अनेक बाह्य कारणों से मौज़को* का कथन है कि इसका ठीक-ठीक नाप नहीं हो सका है।

---

* Mossco describes the consequences of mental over-

अब प्रश्न यह है कि श्रमिक क्यों कर थकता है ? हौलिंगवर्थ ने प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया है कि थकान का मुख्य कारण लगातार कार्य करना है। बिना विश्राम लिये कार्य करने से थकान आती है। लगातार कार्य करने से मनुष्य थक जाता है और थक जाने पर शरीर शिथिल पड़ जाता है और मन एकाग्र नहीं हो पाता। इसलिये अवकाश पर कार्य होना चाहिये। थकान का कारण देर तक कार्य करना भी है। कार्य-रेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी कार्य प्रारम्भ मे तेजी से होता है, फिर गति कम हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि थकान का कारण देर तक कार्य करना है। कार्य जटिल होने पर भी थकान आ जाती है। इसीलिये कुछ विशेष वर्ग के व्यवसाय में अधिक थकान आती है।

श्रमिक की कार्यक्षमता पर थकान का बहुत प्रभाव पड़ता है। कार्यक्षमता बहुत कुछ समय, परिमाण और गुण पर निर्भर करती है।

कार्य-क्षमता

कुशल व्यक्ति वही कार्य कम समय में कर लेता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने निर्धारित समय मे दूसरे व्यक्ति से अधिक परिमाण में कार्य किया वह अधिक कुशल और प्रवीण माना जाता है। कार्यक्षमता का माप कार्य का गुण भी है। वह व्यक्ति जिसने निर्धारित समय मे निर्धारित परिमाण मे और गुण-विशेष की दृष्टि से उच्च कोटि का कार्य किया वह कुशल कार्यकर्ता समझा जायगा। यदि कोई व्यक्ति निर्धारित समय में और निर्धारित

---

work in children as follows: disturbances of vision especially short sightedness, cerebral congestion resulting in headache, bleeding from the nose and vertigo, tendency to round shoulders, loss of appetite and indigestion, predisposition to pulmonary infections, spinal curvature, central disorders and nervousness".

परिमाण में सरल कार्य करता है और उतने ही समय और परिमाण में दूसरा व्यक्ति जटिल कार्य करता है तो इसका अर्थ है कि पहले व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कम कार्यक्षमता है।

कार्य-क्षमता पर बाह्य और आभ्यन्तरिक अवस्थाओं का बहुत प्रभाव पड़ता है। बाह्य और आभ्यन्तरिक अवस्थाएँ ठीक होने से कार्य-क्षमता बढ़ती है। बाह्य अवस्थाएँ निम्नलिखित भाँति हैं :—

१. विश्राम।

२. कार्य करने का समय।

३. स्वास्थ्य।

४. आबहवा।

कार्य-क्षमता के साथ कार्य करने के लिये विश्राम आवश्यक है। यह निष्कर्ष प्रयोग के आधार पर निकाला गया है। शेपर्ड ने प्रयोग करने के

विश्राम

लिये कॉलेज के १२ विद्यार्थियों को चेस्ट वेस्ट मशीन पर ८ घंटे लगातार कार्य करने के लिये कहा। फिर अवकाश लेकर कार्य करने का आदेश दिया। विवरण देखने पर पता लगा कि बिना विश्राम किये कुशलता से कार्य नहीं किया जा सकता। श्रमिक को कम से कम हर घंटे कार्य करने पर १६·६ प्रतिशत विश्राम अवश्य करना चाहिये। वरनन और बेडफोर्ड ने भी बिजली-घर में काम करने वाले श्रमिकों पर इस प्रकार का प्रयोग किया। बिना विश्राम लिये कार्य करने को कहा गया; फिर विश्राम लेकर। विश्राम लेकर कार्य करने पर कार्य अधिक हुआ; बिना विश्राम लिये कार्य करने पर कार्य कम हो सका। मानसिक कार्य में हर घंटे कार्य करने के पश्चात् पाँच मिनट विश्राम करना आवश्यक है। दस मिनट विश्राम करना उत्कृष्ट है। ह्वाट ने प्रयोग द्वारा प्रमाणित किया है कि भली-भाँति विश्राम कर कार्य करने से श्रमिक की कार्य-क्षमता ९·३ प्रतिशत बढ़ जाती है।

साधारण तौर से विश्राम का समय निश्चित करने के लिये यह ध्यान में

रखना चाहिये कि विश्राम का समय लगातार दस मिनट से अधिक न हो। अधिक देर विश्राम लेना लाभप्रद नहीं। दस मिनट से अधिक विश्राम करने पर कार्य की ओर से मन विमुख हो जाता है। भोजन का समय विश्राम का समय नहीं समझना चाहिये। विश्राम करते समय मन पूर्णतः शान्त रहे। इधर-उधर की बात सोचने और भाव-लोक मे विचरने मे मानसिक-शक्ति का व्यय न होवे।

विश्राम का समय कार्य की विशेषता पर भी निर्भर करता है। अधिक परिश्रम का कार्य करने पर अधिक विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु कुछ न कुछ विश्राम लेना हर कार्य मे आवश्यक है। विश्राम लेने से कार्य अधिक परिमाण मे होता है, ठीक होता है, दुर्घटना नहीं हो पाती और अरुचि उत्पन्न होने की कम संभावना रहती है।

कार्यक्षमता इस पर भी निर्भर है कि श्रमिक प्रतिदिन कितने घंटे कार्य करता है। अधिक घंटे कार्य पर रहने से और अधिक कार्य करने से

कार्य करने का समय

कार्यक्षमता कम हो जाती है। तत्परता से कार्य नहीं हो पाता। श्रमिक से आठ घंटे काम लेना काफ़ी है। पहले श्रमिक को पन्द्रह सोलह घंटे कार्य करना पड़ता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से १२ घंटे भी काम लेना हानिकारक है। यह समझना भूल है कि अधिक घंटे काम लेने से कार्य अधिक परिमाण में हो सकेगा। यथार्थ मे कम घंटे काम लेने से उद्योगपति और श्रमिक दोनो को लाभ है। उद्योगपति को तो केवल काम का परिमाण और गुण देखना है; श्रमिक के लिये उसके समय की बचत होती है, थकान नहीं आती और स्वास्थ्य भी बना रहता है।

कार्य को कुशलता और तत्परता से करने के लिये अच्छा स्वास्थ्य

स्वास्थ्य

आवश्यक है। इससे श्रमिक में कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। बुरा स्वास्थ्थ होने पर शक्ति कम रहती है, थकान जल्दी आती है और उसमें कार्य-क्षमता

अवशेष नहीं रह जाती। कार्यक्षमता की दृष्टि से श्रमिक न तो विशेष मोटा हो और न दुबला। उसकी सब इन्द्रियाँ तीव्र रहें। किसी में दोष न हो।

इस प्रकार उद्योग में अच्छे स्वास्थ्य की उपयोगिता महसूस की गई। और औद्योगिक स्वास्थ्य-विज्ञान की नीव पड़ी। औद्योगिक स्वास्थ्य-विज्ञान का ध्येय श्रमिक के स्वास्थ्य का पूर्णतः अध्ययन करना और उसे ठीक रखने के लिये हर प्रकार की व्यवस्था करना है।

१. श्रमिक को संक्रामक रोग जैसे कालरा, चेचक, टाइफाइड, मलेरिया से बचाने के लिये हर व्यवसाय-केन्द्र या कार्यालय में सूई का प्रबन्ध रहे। यदि असावधानी में कोई संक्रामक रोग फैल भी गया तो उपचार के लिये औषधि का प्रबन्ध रहे।

२. उद्योग-केन्द्रों में अच्छे डाक्टर की नियुक्ति की गयी हो।

३. औषधालयों का प्रबन्ध रहे जिससे रोग का आक्रमण होते ही सामान्य रूप से सभी प्रकार की चिकित्सा का उचित प्रबन्ध हो जावे।

४. रोग से अपने को बचाये रखने की श्रमिकों को शिक्षा दी जाय।

५. नशीले पदार्थों के सेवन पर प्रतिबन्ध हो, क्योंकि इनका सेवन बिना रोक करने से प्रायः स्वास्थ्य गिर जाता है।

६. श्रमिक की बुरी आदतों को छुड़ाने का प्रयत्न किया जावे जिससे उनका स्वास्थ्य अच्छा बना रहे।

७. उन श्रमिकों के लिये अधिक सुविधा हो जो शारीरिक मानसिक और आर्थिक दृष्टि से निम्न स्तर के हैं।

८. श्रमिक को उसके विभाग के संबंध में सूचना और विशेष शिक्षा (*technical guidance*) दी जावे जिससे उसका बौद्धिक विकास होता रहे।

इस प्रकार औद्योगिक कार्यक्षमता (*Industrial efficiency*) के लिये औद्योगिक स्वास्थ्य विज्ञान (*Industrial Hygiene*) के सिद्धान्तों का अनुसंधान किया गया है। इसकी नींव पड़ते ही उद्योग-क्षेत्र

की बहुत सी समस्याएँ हल हो गयीं। आधुनिक युग में उद्योग ने जो समृद्ध रूप लिया है उसका श्रेय बहुत कर औद्योगिक स्वास्थ्य-विज्ञान को है। जब औद्योगिक स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों को ध्यान में रखकर कार्यालयों में प्रबन्ध होता है तब औद्योगिक कार्यक्षमता की वृद्धि के साथ श्रमिक का व्यक्तिगत जीवन भी पूर्ण और धनी बनता है। इसके नियम व्यक्तिगत स्वास्थ्य विज्ञान (*Personal Hygiene*) के आधार पर बनाये गये हैं।

कार्यक्षमता की वृद्धि के लिये बाह्य कारणों में आबहवा का प्रश्न भी मुख्य प्रश्न है। आबहवा में सूर्य की रोशनी और स्वच्छ हवा की ओर ध्यान देना है। सूर्य की रोशनी का प्रभाव स्वास्थ्य पर बहुत पड़ता है। इस कारण यह औद्योगिक स्वास्थ्य विज्ञान का भी विषय हुआ। परन्तु इस प्रसंग में सूर्य की रोशनी आबहवा के अन्तर्गत ही है। इससे रोग के कीटाणू नष्ट हो जाते हैं। श्रमिक के शरीर में बल बना रहता है। हरएक बड़े कारखाने में रोशनदान खिड़की और दरवाजे इस भाँति बने हों कि सूर्य की रोशनी आवे। जहाँ इसका प्रबंध न किया जा सके वहाँ श्रमिक की कार्यक्षमता बनाये रखने के लिये दिन में उसे जल्दी छुट्टी देने का प्रबन्ध रहे जिससे खुले स्थानों में आमोद-प्रमोद कर वह अपने स्वास्थ्य को ठीक रख सके। खुले स्थान में खेल में भाग लेने से श्रमिक की दिन भर की थकान मिट जाती है और वह हृष्ट-पुष्ट रहता है।

आबहवा

हवा में ऑक्सिजन का अनुपात कम होने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मैकफॉरलैन्ड ने वैज्ञानिक दृष्टि से इस पर खोज की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हवा में ऑक्सिजन कम होने से मनुष्य की आलोचना-शक्ति कम हो जाती है, निर्णय गलत देना प्रारम्भ करता है, ध्यान एकाग्र नहीं हो पाता, कार्य करने की गति कम हो जाती है, विमूढ़ सा मालुम पड़ने लगता है, और संवेग की दृष्टि से अव्यवस्थित सा हो जाता है। जब ऑक्सिजन बहुत कम मात्रा में रहता है तब तो श्रमिक अपनी चेतना भी

खो बैठता है और उसके शरीर की सारी माँसपेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। यही कारण है कि वायुयान के संचालक को कुछ ऊँचाई पर ऑक्सिजन लेना पड़ता है।

ऑक्सिजन की कमी का अनुमान हवा के सब तत्वों के अनुपात को देखने से होता है। शुद्ध हवा में नाइट्रोजन ७८·१४, ऑक्सिजन २०·९३, आरगन ०·९० और कारबन-डाइऑक्साइड ०·०३ होता है। कारबन-डाइऑक्साइड अधिक होने से हवा दूषित हो जाती हैं। छ प्रतिशत के अनुपात में होने पर इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर बहुत हानिकारक पड़ता है। सिर में दर्द होने लगता है, पसीना आने लगता है और मुख लाल हो जाता है। पर यह प्राण घातक नहीं है। नाइट्रोजन के अधिक होने से हवा के दबाव में गड़बड़ी पड़ जाती है और मनुष्य की अवस्था ठीक उस व्यक्ति सी होती है जो गहरे समुद्र में गोता लगाकर दूर निकला हो।

हवा की ठंढक आवश्यक है। कारण यह है कि कार्य करने से रक्त शरीर में तेज़ी से दौड़ने लगता है और इससे गर्मी उत्पन्न हो जाती है। शरीर के यंत्र को ठंढा करने के लिये हवा की ठंढक आवश्यक है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है और आराम मिलता है।

इस प्रकार कार्य-क्षमता (*Efficiency*) की बाह्य अवस्थाओं (*objective factors*) पर विचार हुआ है। अब आभ्यन्तरिक अवस्थाओं (*Subjective factors*) पर प्रकाश डालना है। आभ्यन्तरिक अवस्थाएँ बाह्य अवस्थाओं से अधिक महत्व की हैं।

आभ्यन्तरिक अवस्थाएँ निम्नलिखित भाँति हैं :—

१. इच्छानुगत भाव (*Motivation*)

२. ऊबना (*Boredom*)

३. एकाग्रता

४. संवेगात्मक सामञ्जस्य (*Emotional adjustment*)

५. अभिरुचि और व्यक्तित्व संबंधी वैयक्तिक भेद

इच्छानुगत भाव

श्रमिक की कार्य-क्षमता बहुत कुछ उसके इच्छानुगत भाव पर निर्भर करती है। इच्छानुगत भाव तीव्र होने पर वह कठिन से कठिन कार्य योग्यता और तत्परता से कर लेता है। देर तक कार्य करने पर भी वह नहीं थकता। जिस कार्य में रुचि नहीं रहती वह सरल रहते, भार सा लगता है और थकान आ जाती है। बात यह है कि रुचि रहने पर मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा मन से उठती है; रुचि न रहने पर वह केवल बाध्य किया जाता है। मन से प्रेरणा मिलने पर कार्य-क्षमता के साथ कार्य किया जाता है; बाहरी स्थिति से बाध्य होने पर तत्परता और कुशलता से कार्य नहीं हो पाता। श्रमिक की नियुक्ति करने के समय उसकी रुचि अथवा उसके मन के झुकाव को जानना-समझना आवश्यक है।

मनुष्य में इच्छानुगत भाव (*Motivations*) अनेक प्रकार के हैं। इनमें से कुछ प्रारम्भिक (*primary*) हैं और कुछ गौण (*secondary*) प्रारम्भिक इच्छाएँ जन्मदत्त होती हैं। ये वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं हुई रहतीं। बालक पैदा होते ही दूध के लिये मचलने लगता है। यदि कोई उसकी बात नहीं सुनता या मानता तो वह रोने लगता है। भोजन, वस्त्र और रहने के स्थान से संबंधित इच्छाएँ प्रारम्भिक हैं। ये इच्छाएँ हरएक व्यक्ति में रहती हैं और इनकी पूर्ति किसी न किसी प्रकार करना ही पड़ता है। भूख को शांत करना जीवन के लिये अनिवार्य है। किन्तु, गौण इच्छाएँ वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न होती हैं। जैसा वातावरण होगा वैसी इच्छाएँ बनेंगी। स्वादिष्ट भोजन और सुन्दर वस्त्र की इच्छाएँ गौण हैं। सभ्यता के विकास के कारण गौण इच्छाएँ बहुत तीव्र हो गयी हैं। अब ये मनुष्य के क्रिया-व्यापार में उसी प्रकार उत्तेजन के रूप में कार्य करती हैं जिस प्रकार प्रारम्भिक इच्छाएँ।

अब प्रश्न यह है कि इच्छानुगत भाव का प्रभावशील होना किन बातों

पर निर्भर करता है। इच्छानुगत भाव तीव्र होने पर मनुष्य उसे संतुष्ट करने के लिये अधिक प्रयत्नशील होता है : जिस व्यक्ति को कई दिन से भोजन नहीं मिला है वह स्वभावतः भोजन के लिये परिश्रम करेगा। इच्छा की तीव्रता प्रयास पर निर्भर है। साथ ही, यह सदैव पहुँच के भीतर हो; अन्यथा वह व्यक्ति प्रयत्नशील होने के स्थान पर निश्चेष्ट हो जायगा। इच्छा का प्रभावशील होना उचित उत्तेजन (*adequa e incentive*) पर भी निर्भर है। इच्छा को क्रियमाण करने के लिये उत्तेजन आवश्यक है। कार्य करने के लिये प्रायः ऊँची तनखाह उत्कृष्ट उत्तेजन है। शुल्टज़ ने शिक्षित और अर्द्धशिक्षित दोनों वर्ग के व्यक्तियों पर प्रयोग करके इस कथन की पुष्टि की।

पुरस्कार की योजना रहने पर इच्छानुगत भाव प्रभावशील हो जाता है। जब कार्य करने पर भी किसी प्रकार के पुरस्कार मिलने की आशा नहीं रहती तब इच्छाएँ निश्चेष्ट रहती हैं। पुरस्कार निश्चयात्मक रूप से मिलना चाहिये। यह नहीं कि तनखाह बढ़ाने को कहा पर नहीं बढ़ाया। झूठे आश्वासन से लाभ नहीं होता। पुरस्कार तुरत मिलना चाहिये। बहुत दिन तक प्रतीक्षा में रहने से इच्छा निष्प्रभ हो जा सकती है। पुरस्कार ऐसा भी हो जो पाने वाले के उपयोग का हो। ईंट ढोने वाले के लिये सोफा सेट उपयोगी नहीं है; पहनने का कोट मिलने पर वह संतुष्ट होगा और उसकी कार्य करने की इच्छा तीव्र हो जायगी। इंजिनियर के लिये सोफासेट उपयोगी है। यह उसकी इच्छा को तीव्र और प्रभावशील बना सकता है।

इच्छानुगत भाव को प्रभावशील बनाने के लिए जो योजनाएँ निकाली जाँय वे श्रमिक की समझ में आनी चाहिये; अन्यथा उसका ध्यान उधर आकर्षित न हो सकेगा। संरक्षक के व्यवहार का भी इच्छानुगत भाव पर प्रभाव पड़ता है। पुटनम ने उद्योगपति और श्रमिक के परस्पर संबंध पर विशेष महत्व दिया है।

इच्छाओं में सामंजस्य होना भी आवश्यक है। जब सब इच्छाएँ एक ही उद्देश्य को पूर्ण करने में क्रियमाण रहती हैं तब इच्छानुगत भाव प्रभावशील होता है। संघर्ष होने पर कोई भी इच्छा तीव्र नहीं होने पाती। एक इच्छा दूसरी इच्छा को असमर्थ करने का केवल प्रयत्न करती रहती है।

जिस प्रकार इच्छा के अभाव का बहुत प्रभाव कार्य-क्षमता पर पड़ता है उसी प्रकार ऊबने (*Boredom*) का भी प्रभाव कार्य-क्षमता पर पड़ता है। किसी कार्य को करने में जब मन ऊब जाता है तब वह कुशलता और तत्परता से नहीं किया जा सकता। पौफेनबर्गर ने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित किया है कि ऊबने का कारण किसी एक कार्य को बारबार करना है। मानव स्वभाव का पूर्ण रूप से ध्यान रखकर, कार्य-व्यवस्था बनाने से, मनुष्य किसी प्रकार कार्य से ऊब नहीं सकता। कई प्रकार का कार्य होने से श्रमिक की रुचि कार्य में बनी रहती है। वह नहीं ऊबता। एक कार्य से ऊबने के पहले ही उसे छोड़कर वह दूसरा कार्य प्रारम्भ कर सकता है। मनुष्य स्वभाव से ही नवीनता चाहता है। नयी वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है। जब उसको बराबर नया कार्य मिलता रहेगा तब उसकी रुचि बनी रहेगी। साथ ही, अधिक देर तक लगातार कार्य करते रहने से भी श्रमिक ऊब जाता है, रुचि नहीं रह जाती और मानसिक थकान आती है। इसलिये कार्य करने का समय थोड़ा हो। इसका उल्लेख किया जा चुका है। कार्य करते समय विश्राम का अवसर दिया जाय। श्रमिक के विचार-विनिमय तथा दिल-बहलाव के लिये क्लब हो जहाँ श्रमिक आमोद-प्रमोद में भाग ले सके। खेल में भाग लेने से मस्तिष्क ताजा हो जाता है और कार्य कैसा भी जटिल हो वह नहीं घबड़ाता; बल्कि सुलझाने का प्रयत्न करता है।

ऊबना

इन सब मनोवैज्ञानिक सुझाव को ध्यान में रख कर व्यवस्था करने से श्रमिक कार्य से नहीं ऊबता। वह कार्य-क्षमता के साथ अपना कार्य करता है।

कार्य-क्षमता की वृद्धि के लिये श्रमिक का एकाग्र चित्त होना भी आवश्यक है। किसी कारणवश जब उसका ध्यान एकाग्र नहीं होता तब वह कुशलता से कार्य नहीं कर पाता। ध्यान एकाग्र न होने का कारण कभी तो बाह्य रहता है और कभी आभ्यन्तरिक। बाह्य कारणों का निवारण करना सहज है; आभ्यन्तरिक का नहीं। मौरगन हौवे ने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित किया है कि मन एकाग्र न होने का प्रमुख आभ्यन्तरिक कारण इच्छानुगत भाव की कमी है। इच्छा न होने पर मन किसी प्रकार एकाग्र नहीं हो सकता।

कार्य-क्षमता के लिये श्रमिक के व्यक्तित्व में संवेगात्मक सामञ्जस्य भी आवश्यक है। सामञ्जस्य न रहने पर कार्य कम परिमाण में होता है, शरीर और मन शिथिल पड़ जाते हैं, रुचि नहीं रह जाती, ध्यान एकाग्र नहीं हो पाता और हर समय वह अनमना रहता है। मन में संघर्ष की गुत्थी रहने के कारण उन्हें सुलझाने के उधेड़बुन में वह पड़ा रहता है। जब संवेगात्मक असामञ्जस्य अत्यधिक हो जाता है, कार्य करने की दृष्टि से श्रमिक बिल्कुल निकम्मा हो जाता है। कार्य में कुशलता दिखलाने का प्रश्न ही नहीं रहता। अधिकतर वे ही श्रमिक संवेगात्मक अस्थिरता के शिकार बनते हैं जिनकी प्रकृत इच्छाएँ असंतुष्ट हैं—परिस्थिति प्रकृत इच्छा के प्रतिकूल है।

श्रमिक की कार्य-क्षमता उसके व्यक्तित्व और अभिरुचि पर भी निर्भर है। मानव में व्यक्तिगत भेद हैं। कुछ व्यक्ति बहिर्मुखी (*Extrovert*) हैं और कुछ अन्तर्मुखी (*Introvert*)। जो व्यक्ति बहिर्मुखी हैं वे अधिक कार्य-क्षमता के साथ अपना कार्य करते हैं, यद्यपि कुछ व्यवसाय विशेष में अन्तर्मुखी अधिक उपयुक्त हैं। इसी प्रकार जिनमें कार्य करने की पैदायशी अभिरुचि है वे उन व्यक्तियों से अधिक कार्य-क्षमता के साथ कार्य कर सकते हैं जिनमें उस कार्य विशेष के लिये अभिरुचि (*Aptitude*) नहीं है। बुद्धि और अभिरुचि जन्मदत्त विशेषताएँ हैं।

इन सब बाह्य और आभ्यन्तरिक पहलुओं पर विचार करके यदि उद्योगपति श्रमिक से कार्य ले तो वह अधिक तत्परता और लगन से कार्य करेगा। कार्य-क्षमता की वृद्धि के लिये जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य पर ध्यान रखना पड़ता है उसी प्रकार मानसिक अवस्था पर भी। श्रमिक की कार्य-क्षमता की समस्या पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विस्तार से अध्ययन हुआ है। इसी कारण उद्योग-क्षेत्र में मनोविज्ञान एक प्रकार से अनिवार्य हो गया है।

वैज्ञानिक व्यवस्था के प्रवर्त्तक गिलब्रेथ ने श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये एक नयी युक्ति निकाली जिसका उद्देश्य था कम समय में कम प्रयास से अधिक कार्य किया जा सके। यह युक्ति "समय की गति का अध्ययन" (*Time-Motion study*) के नाम से प्रसिद्ध है। गिलब्रेथ का यह पहला प्रयास था। उन्होंने श्रमिक के कार्य की गति का सूक्ष्म अध्ययन किया। विशेष कर ईंट ढोनेवालों पर प्रयोग करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जितने काम को वे १२ घंटे में करते हैं, गति तीव्र करके उतना ही काम आसानी से ५ घंटे में किया जा सकता है। ईंट ढोने की संख्या प्रति घंटे १२० से ३५० की जा सकती है। उन्होंने साइक्लेग्राफ यंत्र से श्रमिक के प्रयास (*movements*) का विवरण लिया और स्टौपवाच से समय का। बाद में इसके लिये एक दूसरे यंत्र का प्रयोग होने लगा। यह यंत्र क्रोनोसाइक्लेग्राफ है। इससे विवरण अधिक सूक्ष्म लिया जा सकता है। प्रयोग करने पर गिलब्रेथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रायः मनुष्य अकारण अज्ञानता वश परिश्रम करता है; ठीक तरकीब जानने पर तीव्र गति से कार्य करके कम समय में अधिक कार्य कर सकता है।

अब व्यापार की समस्या पर विचार करना है। मनोविज्ञान में

व्यापार

व्यापार के संबंध में भी कई आविष्कार हुये हैं। इनमें से कुछ काल्पनिक हैं और कुछ व्यावहारिक। अधिकतर अनुसंधान व्यावहारिक मूल्य के हैं और इनका उपयोग

व्यापार-क्षेत्र में सफलता से हो रहा है। व्यापार की निम्नलिखित समस्याएँ मनोविज्ञान का विषय हैं :—

१. विज्ञापन।

२. ग्राहक की रुचि तथा आवश्यकता।

३. विक्रेता की विशेषताएँ।

व्यापार की सफलता बहुत कुछ विज्ञापन पर निर्भर करती है। विज्ञापन प्रभावशील बनाने के लिये इसकी योजना मनोवैज्ञानिक आधार पर निश्चित करना है। विज्ञापन से किसी वस्तु के बारे में पूरी सूचना मिल जाती है। जिस वस्तु में रुचि नहीं रहती उसमें भी रुचि (*secondary motivation*) उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य प्रायः अपनी आवश्यकता नहीं समझता। विज्ञापन से उत्तेजना मिलती है और वह कह बैठता है 'यह तो हमारे लिये आवश्यक है।' कभी तो विज्ञापन प्रारम्भिक आवश्यकता की वस्तुओं के बारे में रहता है और कभी गौण वस्तुओं के बारे में। विज्ञापन की सफलता दो बातों से समझी जाती है : एक, यह दूसरों पर प्रभाव डालने (*appeal*) में कहाँ तक सफल रहा; दो, ग्राहकों ने कहाँ तक प्रतिक्रिया (*response*) दिया। इस हेतु विज्ञापन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये :—

विज्ञापन

(क) विज्ञापन की सफलता प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर निर्भर है। जो विज्ञापन प्रकृत तथा प्रारम्भिक इच्छाओं की पूर्त्ति करते हैं उनकी ओर मनुष्य का ध्यान आपोआप आकर्षित हो जाता है। साधारण से साधारण व्यक्ति का भी ध्यान भोजन, कपड़ा और रहने के स्थान के संबंध में विज्ञापन पाकर आकर्षित हो जाता है। यह बात दूसरी है कि अधिक मूल्य की वस्तु होने पर सामान्य वर्ग के व्यक्ति का ध्यान उधर नहीं जाता।

(ख) विज्ञापन की सफलता इस बात पर भी निर्भर है कि जिस

वस्तु के लिये विज्ञापन है उसका उपयोग उस समय कहाँ तक है। मनुष्य की आवश्कता समयानुकूल बदलती रहती है। शांति के समय आरामदेय वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है; युद्ध के समय मनुष्य केवल प्रारम्भिक आवश्यकता की वस्तुएँ चाहता है। इस कारण युद्ध के समय आरामदेय वस्तुओं के विज्ञापन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(ग) विज्ञापन का प्रभाव ग्राहक की आयु पर भी निर्भर करता है। बालक विज्ञापन का सुन्दर रंग देखकर प्रभावित होता है; युवक या प्रौढ़ विज्ञापन में वस्तु की उपयोगिता, मजबूती और मूल्य देखकर। यदि वह वस्तु बालक के उपयोग की है तो विज्ञापन करते समय रंग पर अधिक ध्यान देना चाहिये; यदि युवक के लिये है तो उपयोगिता और मजबूती पर। यदि वह वस्तु सबके लिये उपयोग की है तो रंग, मजबूती और मूल्य सब पर ध्यान रखना चाहिये।

(घ) किसी वस्तु के विज्ञापन की सफलता आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर भी निर्भर है। आर्थिक स्थिति अच्छी रहने पर व्यक्ति का ध्यान मोटर के विज्ञापन की ओर आकर्षित होगा, अन्यथा प्रभावशील सुन्दर विज्ञापन रहते उसका कोई प्रभाव न पड़ेगा। इसी प्रकार लिपस्टिक और पाउडर का विज्ञापन उस समाज में प्रभावशील होगा जो पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित है। इसलिये इन वस्तुओं का विज्ञापन गाँवों की अपेक्षा शहर में अधिक सफल होता है।

(च) विज्ञापन की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये वस्तु-विशेष के उपयोग पर जोर देना पड़ता है। कारण यह है कि सुन्दरता से अधिक उपयोगिता की ओर ध्यान जाता है। इन्श्योरेन्स कंपनी के विज्ञापन की ओर ध्यान जाने का कारण उसका उपयोगी होना है। जूते के विज्ञापन में डिज़ाइन से अधिक इसकी उपयोगिता पर ध्यान जाता है।

(छ) विज्ञापन का प्रभाव उसके रंग पर बहुत कुछ निर्भर है। रंग मनुष्य के भाव-संवेग को उत्तेजित करता है। यह वास्तव में वस्तु के गुण का

प्रतीक होता है। हरएक व्यक्ति पर उसके स्वभाव के अनुसार पृथक्-पृथक् रंग का पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है। रंग का चुनाव अवस्था, सभ्यता और देश के अनुसार भी होता है। बाल्यावस्था में हरे नीले और लाल रंग की ओर झुकाव रहता है; युवावस्था में कलात्मक रंग की ओर झुकाव रहता है और प्रौढ़ावस्था में गंभीर। असभ्य जातिके व्यक्ति तेज़ रंग पसन्द करते हैं; सभ्य जातिके व्यक्ति हलका और अधिकतर श्वेत। चीन निवासी को लाल रंग प्रिय होता है; अफ्रीका निवासियों को यह नहीं रुचता क्योंकि यह युद्ध का प्रतीक है। डिट्रौट के युनियन ट्रस्ट कंपनी ने रंग की पसंद देखने के लिये पुस्तकों की जिल्द को दस रंग में बनवाया। इसमें गाढ़े नीले रंग की पुस्तक सबसे अधिक बिकीं; भूरे और पीले रंग की उससे कम; हरे और हलके नीले रंग की बहुत ही कम बिकीं। नीले रंग की डिब्बी का फेस पाउडर और रंग से अधिक बिकता है। साबुन भी हरे और नीले रंग के कागज में लपेटा अधिक पसन्द किया जाता है। फाउन्टेन पेन में हरा रंग अधिक चलता है। किन्तु अधिकतर पूरक रंग (*Complimentary colour*) पसंद किया जाता, है जैसे पीला नीला। कुछ रंग अपने ही में ऐसे आकर्षक हैं कि अनायास ही ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है।

(ज) विज्ञापन का आकार इस प्रकार का हो कि एक साथ पूरा विज्ञापन आँखों के सम्मुख आ जाय। सन् १८६० से विज्ञापन का आकार धीरे धीरे बड़े माप में होने लगा। १६२१ में आकर बड़ा विज्ञापन प्रभावशाली माना जाने लगा। बड़े आकार में रहने से विज्ञापन की ओर ध्यान अधिक आकर्षित होता है और उस वस्तु के बारे में विस्तार से सूचना भी मिल जाती है। प्रयोग द्वारा पता लगा है कि पूरे पृष्ठ का विज्ञापन आधे पृष्ठ के विज्ञापन से अधिक प्रभावशाली होता है। परन्तु स्ट्रौंग ने इस पर आक्षेप किया है उनका कथन है कि चौथाई पृष्ठ का विज्ञापन चार

बार प्रकाशित करना अधिक अच्छा है इससे कि एक पृष्ठ का विज्ञापन एक बार प्रकाशित किया जाय।

(झ) जब विज्ञापन कई बार किया जाता है तब ग्राहक के मन पर प्रभाव पड़ता है और आवश्यकता होने पर आपोआप विज्ञापन का ध्यान आ जाता है। किन्तु हौलिंगवर्थ का कथन है कि समय का लंबा विराम नहीं देना चाहिये। पहला विज्ञापन प्रकाशित होने के दो दिन बाद दूसरा विज्ञापन प्रकाशित होना चाहिए, तीसरा पाँच दिन बाद, चौथा दस दिन बाद और पाचवाँ बीस दिन बाद। विज्ञापन में कुछ परिवर्त्तन करते रहने से यह अधिक प्रभावशील हो जाता है। शीर्षक का भी ध्यान रखना चाहिये। यह लंबान चौड़ान में ऐसा हो कि एक साथ ध्यान क्षेत्र (*span of attention*) में आ जाय। स्पष्ट बड़े बड़े अक्षर में हो; बहुत सजावट में ऊँची-तीखी भाषा में न लिखा हो। मनुष्य नवीनता चाहता है। पुरानी वस्तु के विज्ञापन को भी नवीन रूप दे देने से ग्राहक का ध्यान आकर्षित हो जाता है।

संक्षेप में, विज्ञापन की सफलता आभ्यन्तरिक और बाह्य आवश्यकताओं पर निर्भर है। आभ्यन्तरिक दृष्टि से मानव के स्वभाव और उसकी इच्छाओं पर ध्यान रखना पड़ता है; बाह्य में नवीनता, आकार और रंग प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर विज्ञापन करने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि ग्राहकों का ध्यान विज्ञापन के द्वारा वस्तु की ओर आकर्षित होता है। ध्यान आकर्षित होने से वस्तु अधिक बिकती हैं। अधिक बिकने पर वह वस्तु अधिक परिमाण में बनायी जाती हैं।

---

* "The value of span increases approximately as the squire root of the increase in area, and not directly with the increase in area"—Psychology and Practical life.—Colling &. Drever. P. 231,

विज्ञापन के संबंध में सबसे अधिक अनुसंधान अमेरिका में हुआ है। शिक्षा-क्षेत्र की तरह विज्ञापन पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अध्ययन और मनन हुआ है। विज्ञापन-मनोविज्ञान पर बहुत साहित्य मिलता है।

व्यापार की सफलता केवल विज्ञापन पर निर्भर नहीं है; ग्राहक की रुचि तथा आवश्यकता पर भी निर्भर है। यदि कोई वस्तु सब व्यक्तियों के लिये आवश्यक है और उनके रुचि की है, उसका विज्ञापन भले ही न हो, क्रय-विक्रय उत्पादन-विभाजन अवश्य होगा। जब मानव की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर व्यापार होता है तभी आर्थिक लाभ संभव है। मनोविज्ञान में ग्राहक की रुचि और आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। यही कारण है कि अब व्यापार वैज्ञानिक विधि से किया जाने लगा है। आवश्यकताएँ क्या हैं और कब प्रभावशाली होती हैं, इस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

विक्रेता की विशेषताएँ

व्यापारकी सफलता के लिये कुशल विक्रेता की भी आवश्यकता है। विक्रेता को ग्राहक की आवश्यकताओं और वस्तु के बारे में पूरा ज्ञान होना चाहिये। तभी वह ग्राहक की आवश्यकता को जानते हुये उसकी रुचि को परखकर वस्तुएँ दिखलायेगा और वस्तु के गुण के बारे में उसे समझा पायेगा। वह मानव स्वभाव का पारखी और सूक्ष्म दर्शी हो। तब उसे ग्राहक की रुचि समझने में आसानी पड़ेगी। विक्रेता को स्वभाव से बहिर्मुखी होना आवश्यक है जिससे कि वह अपने कुशल व्यवहार और सामाजिक आदान-प्रदान के भाव से ग्राहक को अपनी ओर आकर्षित कर सके। जो व्यक्ति स्वभाव से अन्तर्मुखी हैं, वे सफल विक्रेता नहीं हो सकते। कुशल विक्रेता होने के लिये सजग रहना आवश्यक है। विक्रेता का संवेग परिमार्जित होना चाहिये। वह साधारण सी बात में तमतमा न उठे। क्रोध का भाव रहने पर वह सफल विक्रेता नहीं हो सकता। उसमें दूसरे को निर्देशन देने की शक्ति भी हो। यह तभी संभव है जब

उसमें तीव्र इच्छा-शक्ति रहेगी। कमजोर इच्छा-शक्ति का व्यक्ति दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त गंभीर स्वभाव का हो। क्रेन ने एक उदाहरण दिया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि विक्रेता में गंभीरता न रहने पर क्या हानि होती है : विक्रेता बातचीत-व्यवहार में कुशल था। सौदा ग्राहक से तय हो गया। उसने ३५ मशीन का आर्डर लिखने के लिये कहा। यह सुनते ही वह भौचक्का सा हो गया क्योंकि उसका एक छोटा सा फर्म था और उसे इतने आर्डर की आशा नहीं थी। सोचता था केवल दो एक मशीन का आर्डर मिल जायगा। ग्राहक उसकी विमूढ़ता के भाव से डिग गया और यह कहता हुआ चला गया 'अभी रहने दो, कल आर्डर दूँगा।' लिखने का तात्पर्य यह है कि विक्रेता को कुशल मनोवैज्ञानिक की तरह सब स्थिति में व्यवहार और भाव रखना चाहिये। शरीर से हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ भी हो जिससे वह दूसरों पर प्रभाव डाल कर इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर दे कि ग्राहक बिना सौदा लिये न लौटे। ये सब गुण कुशल विक्रेता के मापक है।

विक्रय व्यापार का एक बड़ा भाग है और विक्रय की समस्या की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विक्रेता और ग्राहक का व्यक्तित्व है। आधुनिक युग में उद्योग-संबंधी समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक प्रकाश विशेष रूप से डाला गया है। यहाँ तक कि उद्योग में मनोविज्ञान अनिवार्य बन गया है। उद्योग संबंधी मनोवैज्ञानिक सूझ व्यावसायिक सामञ्जस्य की दृष्टि से मनुष्य के लिये एक बड़ी देन है।

शब्दकोश

अन्तर्दृष्टि	*Insight*
अभ्यास	*Habit*
—सिद्धान्त	*Law of Exercise*
अनुकरण	*Imitation*
अन्तर्ग्रन्थि	*Endocrine Glands*
अभिरुचि	*Aptitude*
—परीक्षा	*—Test*
अहं	*Ego*
अंध बिंदु	*Blind Spot*
अहं का तादात्म्य	*Ego-Identification*
अनिद्रा	*Insomnia*
अन्त्रस्राव	*Intestinal secretion*
अन्तर्ज्ञान	*Intuition*
अर्थहीन शब्द	*Nonsense Syllables*
अभ्यस्त सहज क्रिया	*Conditioned Reflex*
अर्थयुक्त शब्द	*Meaningful Syllables*
अभावन	*Decondition*
अनियत अवधि	*Indeterminate sentence*
असामयिक मनोह्रास	*Dementia Praecox*
अध्यास	*Illusion*
अवरोध	*Resistance*
असाधारण अवस्था	*Abnormal condition*

—मनोविज्ञान	*Abnormal Psychology*
अबाध मनः आयोजन	*Free Association*
अर्जित ज्ञान का परत्र उपयोग	*Transfer of Learning*
अज्ञात मन	*Unconscious Mind*
—भाव-कल्पना	*Unconscious phantasies*
अनियंत्रित प्रवृति	*Uncontrollable Impulse*
अन्तर्मुखी	*Introvert*
अन्तर्मुखीकरण	*Introversion*
अनिच्छित, अनियंत्रित	*Involuntary*
असामञ्जस्य	*Mal-adjustment*
अपराध-भाव	*Unconscious sense of guilt*
अप्रिय	*Unpleasant*
अन्तःप्रेक्षण	*Introspection*
अनिर्णायक	*Non crucial*
आत्मीकरण	*Assimilation*
आमर्शन	*Suggestion*
—आत्म	*Auto-suggestion*
—पर	*Hetro-suggestion*
आत्मप्राधान्य	*Self-Assertion*
आचरण	*Conduct*
आत्मपीड़न	*Maschoism*
आत्मसम्मोही	*Narcisstic*
आरोपण	*Projection*
—परीक्षाएँ	*Projective Tests*
आधुनिक मनोविज्ञान	*New Psychology*
औषधि मनोविज्ञान	*Medical Psychology*

औत्सुक्य विकलता	*Anxiety Neurosis*
औद्योगिक मनोविज्ञान	*Industrial Psychology*
—स्वास्थ्य मनोविज्ञान	*—Hygiene*
इच्छित क्रिया	*Voluntary activity*
इच्छा-शक्ति	*Will*
इच्छा-पूर्त्ति	*Wish-fulfilment*
इच्छानुगत क्रिया, प्रयोजन, भाव	*Motivation*
—जन्मागत	*—Innate*
—अर्जित	*—Acquired*
उत्स्वास	*Exhalation*
उत्साह विषादमय उन्माद	*Manic Depressive Insanity*
उत्साहावस्था	*Manic phase*
उपेक्षा	*Indifference*
ऊबना	*Boredom*
उत्तेजन-प्रतिक्रिया	*Stimulus Response*
उपचार-परिचय	*Clinical Interview*
एकांगी विधि, आंशिक	*Part Method*
—प्रतिक्रिया	*Detailed Response*
एकरूप प्रतिक्रिया	*Steriotyped response*
एकाग्रता	*Attention*
एकरूपता	*Uniformity*
ऐश्वर्य-भ्रम	*Delusion of Grandeur*
कंठाग्र विधि	*Rote method of Learning*
कल्पना	*Imagination*
कल्पनात्मक सर्जन परीक्षा	*Imaginal Productivity Test*
कल्पनाग्रह, सनक	*Obsession*

कार्य-रेखा	*Work-curve*
कामशून्यता	*Frigidity in erotic activities*
—विकृति, विपरीतीकरण	*Perversion*
—शक्ति	*Libido*
कारागारावकाश	*Parole system*
कार्य शिक्षा-योजना	*Jit*
कार्य-क्षमता	*Efficiency of work*
कार्य	*Work*
कायिक क्रिया	*Biological activity*
कार्य-विश्लेषण	*Functional Job analysis*
क्रिया	*Conation*
—तंतु	*Efferent nerve*
क्रियावाद	*Functionalism*
क्रियात्मक शक्ति	*Motor control*
कौशल शास्त्र	*Technology*
गठिया	*Rhematism*
गर्व-ग्रंथि	*Grandiose Complex*
ग्रन्थिस्राव	*Glandular Secretion*
ग्राहक पेशि	*Systolic*
चरित्रशोधशाला	*Reformatories*
चित्रकथानक परीक्षा	*Thematic Apperception Test*
चेतनावाद	*School of Consciousness*
चौर्यवृत्ति	*Kleptomania*
जड़	*Idiot*
जातिगत विशेषता	*Racial characteristics*
ज्यौतिष शास्त्र	*Astronomy*

जीवौषधि प्रयोगशाला	*Biological Laboratory*
जीवन शैली	*Style of life*
तंतु, स्नायु	*Nerves*
तत्त्व	*Ingrediants*
तीव्रतम विषाद	*Stuporous Melancholia*
तीव्र उत्साह	*Acute Mania*
थकान	*Fatigue*
दमन	*Repression*
दुग्धालभ्य	*Lactic acid*
दृश्येन्द्रिय	*Visual organ*
दृश्यज्ञान	*Visual Perception*
देहार्थ मानसिक उपचार	*Psycho-Somatic Medicine*
देहागत क्रम	*Constitutional system*
दैवी व्याख्या	*Supernatural interpretation*
धारणा	*Retention*
नरविकास परीक्षण	*Anthropometry*
नाट्य प्रयोगपरीक्षा	*Dramatic Production Test*
निद्रा-विचरण	*Somnambulism*
निदान	*Diagnosis*
निम्नतर मानस संहति	*Low Psychological tension*
निर्णायक	*Crucial*
नैतिक मन	*Super-ego*
निश्वासक	*Diastolic*
पंच	*Jurer*
पहचानना	*Recognition*
परवर्गी	*Hetrosex*

पराकाष्ठा	*Maturation*
परपीड़न	*Sadism*
परिमार्जन, उन्नयन	*Sublimation*
परिचय	*Interview*
परीक्षा	*Test*
परिवीक्षक प्रथा	*Probation system*
प्रतिक्रिया समय	*Reaction Time*
—शब्द	*—Word*
प्रतीक	*Symbol*
—प्रतीकन, प्रतीकीकरण	*Symbolization*
प्रदर्शन	*Demonstration*
प्रवेगवाद	*Dynamic School*
प्रत्यावर्त्तन	*Regression*
प्रकृत	*Innate*
प्रखर बुद्धि	*Super normal*
प्रज्ज्वलन वृत्ति	*Pyromania*
प्रतियोगिता	*Competition*
प्रभाव-सिद्धान्त	*Law of Effect*
प्रयास और त्रुटि प्रणाली	*Trial & Error Method*
प्रत्यक्षीकरण	*Perception*
प्रवृत्ति	*Impulse*
—शीलता	*Impulsiveness*
प्रतीक्षा काल	*Apprenticeship*
प्रत्यक्षीकरण कुशलता	*Perceptual excellence*
प्रयोजन वाद	*Hormic school*
पिधान पेशियाँ	*Valves*

पीड़ा-भ्रम	*Delusion of Persecution*
पुनः स्मरण	*Recall*
पुनः शिक्षण	*Re-education*
पैतृक	*Hereditary*
प्रयोग	*Experiment*
प्रयोग-पात्र	*Experimentee*
प्रायोगिक मनोविज्ञान	*Experimental Psychology*
पाचन रस	*Gastric juice*
बालापराधी न्यायालय	*Juvenile Court*
बाल अपराधी	*Juvenile*
बहिर्मुखी	*Extrovert*
बाह्य-माप	*Objective Test*
बाह्यता	*Objectivity*
बाल्यावस्था	*Childhood*
बुद्धि	*Intelligence*
—परीक्षा, माप	*Intelligence Test*
——मात्रा	*Intelligence quotient*
बौद्धिक परिमार्जन	*Intellectual Sublimation*
—क्षमता परीक्षा	*Scholastic Achievement Test*
बिंब	*Image*
बोध	*Cognition*
भ्रम	*Delusion*
भ्रान्ति	*Hallucination*
भाव-वस्तु	*Idea-object*
भाव-कल्पना	*Phantasies*
भावना-ग्रन्थि	*Complexes*

भीति	*Phobia*
मंदबुद्धि	*Sub-normal*
मनोजन्य	*Psychogenic*
मनोविक्षेप	*Psychoses*
मनोविश्लेषण	*Psycho-analysis*
मसी अंक परीक्षा	*Ink Blot Tests*
माँसपेशि का संकुचन	*Muscular Contraction*
मानसिक रोग शास्त्र	*Psychiatry*
—दौर्बल्य	*Psychoneuroses*
—उपचार	*Mental treatment*
—आघात	*Traumas*
—भागफल	*Mental quotient*
—मूल्यांकन	*Mental valuation*
—माप	*Psychometrics*
—निर्बलता	*Feeblemindedness*
—परिवर्त्तन, परिवर्धन	*Mental Transformation*
कार्य-प्रणाली	*Mental Dynamism*
मातृ-पितृ काम-ग्रन्थि	*Oedipus Complex*
मार्गान्तीकरण	*Re-direction*
माप	*Scale*
मातृ भाव	*Tenderness*
मूढ़	*Imbecile*
मूर्च्छा	*Catalepsy*
मौखिक परीक्षा	*Verbal Test*
यांत्रिक कार्य	*Mechanical work*
योग्यता	*Ability*

योग्यता-अंकन	*Merit Rating*
रंग मेल	*Colour Mixture*
रसायन-शास्त्र	*Chemistry*
रक्त नलिकाओंका यथास्थान समावेश	*Vascular adaptation*
वृत्ति	*Instinct*
वशीकरण	*Animal Magnetism*
व्यवहारवाद	*Behaviourism*
व्यक्तित्व	*Personality*
—परीक्षा	*—Test*
—सामञ्जस्य	*Balance of Personality*
व्यवसाय	*Vocation*
व्यावहारिक मनोविज्ञान	*Applied Psychology*
व्यापक सिद्धान्त	*Generalization*
व्यक्तिगत परीक्षा	*Individual Test*
—प्रतिक्रिया	*—Reaction*
व्यावहारिक कल्पना	*Pragmatic Imagination*
व्यवसायिक निर्देशन	*Vocational Guidance*
—चुनाव	*—Selection*
—शिक्षा	*—Training*
—मनोविज्ञान	*—Psychology*
वातावरण	*Environment*
विवरण	*Report*
विवेचना	*Interpretation*
विज्ञापन	*Advertisement*
विश्लेषण	*Analysis*
विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान	*Analytical School of Psychology*

विभिन्नता	*Variation*
विभावन	*Recondition*
विपथ होना	*Deviation*
विचार	*Thought*
विश्राम	*Rest*
विवरण सूची	*Data sheet*
विषय-वस्तु	*Contents*
विषय-वाद	*Structuralism*
विचार क्रिया	*Ideation*
वेदनक्षम आदायक	*Sensitive Receptors*
वैयक्तिक भेद	*Individual Difference*
—विशेषता	*—trait*
—मनोविज्ञान	*—Psychology*
शब्द संधान विधि	*Word Association Test*
शरीर रचना	*Physiogonomy*
—विज्ञान	*Physiology*
शारीरिक व्याख्या	*Physiological interpretation*
शाब्दिक ज्ञान-परीक्षा	*Vocabulary Test*
श्रव्य-दृश्य-शिक्षा-प्रणाली	*Audio Visual System of Education*
श्रवण संवेदन	*Auditory Sensation*
स्पन्दन	*Vibration*
स्थिरभ्रम	*Paranoia*
स्पर्शन	*Tactual Sensation*
श्वास	*Inhalation*
स्मृति	*Memory*
स्नायु तंत्र	*Nervous system*

स्नायु रोग	*Neurasthenia*
स्थायी भाव	*Sentiment*
स्वभाव	*Temperament*
स्वराघात	*Pitch*
समग्रविधि	*Whole Method*
सम्मोहन	*Hypnotism*
सहजक्रिया	*Reflex*
—वादी	*Reflexiologist*
सरणि	*Table*
संक्रमण	*Transference*
—अभावात्मक	*—Positive*
—भावात्मक	*—Negative*
समाज भाव	*Sociability*
संप्रेक्षण	*Observation*
संगीत मग्नता-परीक्षा	*Musical Reverie Test*
संबंध नियम	*Laws of Association*
—साहचर्य्य	*—Contiguity*
—सादृश्य	*—Similarity*
—विपरीतता	*—Contrast*
—परीक्षा	*Association Test*
संवेग	*Emotion*
संवेगात्मक स्थिरता परीक्षा	*Emotional Stability Test*
संघर्ष	*Conflict*
संघ भाव, प्रवृत्ति	*Instinct of Gregariousness*
संश्लेषण	*Synthesis*
संवेदन	*Sensation*

—तंतु	*Afferent Nerve*
—शील	*Sensitive*
सामाजिक रोग	*Social Pathology*
साक्षी	*Witness*
सामञ्जस्य	*Adjustment*
सामाजिक अभाव	*Social inadequacy*
सीखनेका पठार	*Plateau of Learning*
सीमागत बुद्धि, सीमान्त	*Border line*
सीखना, ज्ञानार्जन	*Learning*
सूक्ष्म सिद्धान्त	*Abstract principles*
—भाव	*—Concepts*
—तंतु	*Finer fibres*
सैद्धान्तिक मनोविज्ञान	*Theoretical Psychology*
सौन्दर्य्यात्मक कल्पना	*Aesthetic Imagination*
हस्तकौशल परीक्षा	*Performance Test*
हीनत्व-ग्रन्थि	*Inferiority Complex*
ज्ञात मन	*Conscious Mind*
ज्ञानार्जन क्षमता परीक्षा	*Achievement Learning Test*

अनुक्रमणिका